श्रेष्ठ हिन्दी कहानियां

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मन्त्रालय
भारत सरकार

प्रथम संस्करण : आग्रहायण 1881 (दिसम्बर 1959)
द्वितीय संस्करण : माघ 1884 (फरवरी 1963)
तृतीय संस्करण : ज्येष्ठ 1990 (जून 1968)

मूल्य 3 रुपये

निदेशक, प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस, नई दिल्ली, द्वारा प्रकाशित
सम्राट् प्रेस, पहाड़ी धीरज, दिल्ली द्वारा मुद्रित ।

तृतीय संस्करण के बारे में

इस संग्रह का तीसरा संस्करण अपने पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते समय, हमें अत्यन्त हर्ष और सन्तोष का अनुभव हो रहा है। स्पष्ट है कि हमारी और पाठकों की पसन्द कहीं किसी एक बिन्दु के निकट हो मिलती है। उसी रुचि के प्रति सजग रहते हुए, स्वर्गीय आचार्य चतुरसेन शास्त्री की एक अन्य कहानी 'रज़ील' और सुप्रसिद्ध कथाकार श्री मोहनसिंह सेंगर की 'मान-सम्मान' के स्थान पर उन्हीं की बहुचर्चित कहानी 'पारुल' इसमें सम्मिलित की जा रही है। आशा है यह कथा संग्रह और अधिक रोचक होगा।

—सम्पादक

दो शब्द

स्वाधीनता के उपरान्त लिखी गई 27 श्रेष्ठ हिन्दी कहानियों का यह संग्रह प्रकाशित करते हुए हमें विशेष सन्तोष और हर्ष का अनुभव हो रहा है। इस संग्रह में बाबू वृन्दावनलाल वर्मा (जिन्होंने इस सदी के प्रारम्भ में कहानी लिखना शुरू किया था) से लेकर नई पीढ़ी तक के लेखकों की कहानियां हैं, पर ये सब की सब कहानियां पिछले पांच वर्षों में ही लिखी गई हैं।

उन्नीसवीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के प्रारम्भ में श्री किशोरीलाल गोस्वामी आदि ने बंगला कहानी से प्रेरणा लेकर कुछ क़िस्सानुमा कहानियां हिन्दी में लिखी थीं। पर हमारी राय से हिन्दी के प्रथम वास्तविक कहानी लेखक श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी थे, जिनकी 'उसने कहा था' शीर्षक कहानी हिन्दी में बहुत विख्यात है। हिन्दी कहानी के सौभाग्य से उसे अपने शैशव ही में प्रेमचन्द सी महान् प्रतिभा प्राप्त हो गई। इससे एक लम्बी मंजिल वह कुछ ही वर्षों में पार कर गई। बीसवीं सदी की पहली दशाब्दी में (सन् 1907) प्रेमचन्द ने उर्दू में

कहानी लिखना प्रारम्भ किया था, पर वास्तव में, विशेषतः हिन्दी कहानी की दृष्टि से, उनका काल दूसरी और तीसरी दशाब्दी गिना जाना चाहिए। प्रेमचन्द के हिन्दी में कहानी लिखना प्रारम्भ करने से कुछ ही समय पूर्व जयशंकर प्रसाद और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी कहानियां लिख रहे थे। इस तरह इन तीनों को एक तरह से समकालीन भी कहा जा सकता है।

हिन्दी कहानी की दृष्टि से इस सदी की तीसरी और चौथी दशाब्दियां अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। दूसरी दशाब्दी (1921 से 1930) में विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक, सुदर्शन, चतुरसेन शास्त्री, शिवपूजन सहाय, राय कृष्णदास, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, उग्र आदि प्रतिभाएं भी हिन्दी कहानी को प्राप्त हुईं, जिन्होंने हिन्दी कहानी को खूब समृद्ध किया। हमारी राय से बीसवीं सदी का चौथा दशक (1931 से 1940) हिन्दी कहानी का सर्वश्रेष्ठ काल था, जब पूर्वोक्त लेखकों के अतिरिक्त जैनेन्द्रकुमार, अज्ञेय, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, कमला चौधरी, विष्णु प्रभाकर, अश्क, उषादेवी मित्रा, सत्यवती मल्लिक, मन्मथनाथ गुप्त आदि हिन्दी कहानी में नए-नए तत्वों का समावेश करने लगे। इन दो दशकों में हिन्दी कहानी जैसे एक सदी की मंजिल पार कर गई। और हमारी धारणा है कि 1939 में हिन्दी कहानी विश्व कहानी की तुलना में नगण्य नहीं रही थी। हिन्दी कहानी का स्थान यथेष्ट सम्माननीय हो गया था।

यह एक आश्चर्य की बात है कि प्रथम महायुद्ध के साथ-साथ जिस हिन्दी कहानी में असाधारण जीवन और निखार आया था, वही हिन्दी कहानी दूसरे महायुद्ध से कुण्ठित होने लगी। सन् 1939 से 1950 तक के काल में एक स्पष्ट और लम्बा गत्यवरोध हिन्दी कहानी में दिखाई देता है। हमारे कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि उस युग में कहानियां लिखी ही नहीं गईं (यद्यपि संख्या की दृष्टि से भी इस युग में अपेक्षाकृत कम कहानियां लिखी गईं), अपितु हमारी उक्त स्थापना का अभिप्राय यह है कि इस युग में हिन्दी कहानी का स्तर न सिर्फ ऊंचा नहीं हो पाया, बल्कि सब मिलाकर हिन्दी कहानी का स्तर कुछ गिर ही गया।

वर्तमान दशक में हिन्दी कहानी में फिर से गति दिखाई देने लगी है। कितने ही श्रेष्ठ नए कहानी लेखक इस दशक में हिन्दी को उपलब्ध हुए हैं : मोहन राकेश, अमृत राय, रामकुमार, भीष्म साहनी, कृष्ण बलदेव वैद, राजेन्द्र यादव, कृष्णा सोबती, कमलेश्वर, शेखर जोशी, ओमप्रकाश श्रीवास्तव आदि। इन नए लेखकों से हिन्दी कहानी को निस्सन्देह नया बल मिला है। देश में जिस तरह सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियां तेजी से बदल रही हैं, उनका प्रभाव साहित्य के अन्य सभी अंशों के समान हिन्दी कहानी पर भी पड़ रहा है। परिणामतः हिन्दी कहानी का कल्पना क्षेत्र पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत होता चला जा रहा है।

यह पूछा जा सकता है कि विश्व कहानी की तुलना में हिन्दी कहानी की विशेषता क्या है अथवा उसकी विशेष उपलब्धियां क्या हैं ? हम कहानी को पूरी तरह विश्वजनीन मानते हैं। हमारी राय से कहानी नामक यह साहित्यिक माध्यम अन्य सब माध्यमों से अधिक सार्वभौम है। एक अच्छी कहानी संसार की किसी भी भाषा में अनुवादित होकर संसार के किसी भी देश में अच्छी कहानी मानी जाएगी। जबकि साहित्य के अन्य माध्यमों के सम्बन्ध में यह बातें पूरी तरह लागू नहीं होतीं। इस तरह कहानी के क्षेत्र में किसी एक देश की उपलब्धि अन्य देशों की उपलब्धियों से विशेष भिन्न नहीं होने पाती। हां, कहानी में भी देशीय रंग, देशीय प्रभाव और देशीय वातावरण स्वभावतः पृथक पृथक होता है। हिन्दी कहानी में आज, शायद भारतीय परिस्थितियों के कारण, व्यंग्य, झुंझलाहट और कुछ अंश तक निराशाजनक कटुता भी दिखाई दे रही है, जबकि हिन्दी कहानी के उत्थान काल (1921 से 1940 तक) में वह आदर्शवाद, देश प्रेम और त्याग आदि की भावनाओं से अनुप्राणित थी। वह भी शायद परिस्थितियों का ही प्रभाव था। यहां हम यह स्पष्ट कर दें कि कहानी की श्रेष्ठता का माप उसका विषय नहीं है। श्रेष्ठता का माप विषय के निर्वाह पर अधिक निर्भर करता है। हमारी यह निश्चित धारणा है कि साहित्य का यह माध्यम प्रायः वहीं सफल और प्रभावशाली सिद्ध होता है, जहां

यह आधारभूत सत्यों और तत्वों को छूता है। अब सचाई यह है कि मानव हृदय के आधारभूत तत्व और वास्तविकताएं अच्छी-बुरी दोनों तरह की हैं। इससे इस बात का इतना महत्व नहीं रहता कि कहानी का विषय किस श्रेणी का है। पर यदि लेखक अपने को निस्संग नहीं रख पाया तो उसकी रचना कभी उच्चकोटि की नहीं हो सकेगी।

यह संग्रह वर्तमान हिन्दी कहानी का यथेष्ट प्रतिनिधित्व करता है। हिन्दी कहानी के प्राय: सभी प्रचलित रूप इस संग्रह में सम्मिलित हैं। ये सब कहानियां पिछले कुछ वर्षों में 'आजकल' में प्रकाशित हुई हैं। हमें विश्वास है कि हिन्दी में इस संग्रह का स्वागत होगा।

14 नवम्बर, 1959

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार
सम्पादक

सूची

गीली मिट्टी

अमृतराय

नींद में ही जैसे मैंने माया की आवाज़ सुनी और चौंककर मेरी आंख खुल गई। बगल के पलंग पर नज़र गई, माया वहां नहीं थी। आज इतने सवेरे माया कैसे उठ गई, कुछ बात समझ में नहीं आई।

आवाज़ दरवाज़े पर से आई थी। मैं हड़बड़ाकर उठा और वहां पहुंचा, तो क्या देखता हूं कि माया दरवाज़ा खोले खड़ी है और बाहर के बरामदे में एक दुबला-पतला आदमी, मंझोले कद का, सिर्फ़ एक ज़रा-सी लुगड़ी लपेटे, बाकी सब धड़ और टांगें नंगी, उकड़ूं बैठा है। माया दरवाज़ा खोलने आई, तो आज सबसे पहले इसी आदमी के दर्शन हुए। मैंने भी देखा और मुझे भी गुस्सा आया कि यह मरदूद कैसे आ मरा। मैंने डपट कर पूछा—"कौन हो तुम ? यहां कैसे आए ?"

दोनों ही सवालों का जवाब आसान था—मैं एक गरीब भिखमंगा हूं जिसके सर पर छप्पर नहीं है। या – जी नहीं, शिकरम नहीं ली, यों ही चलकर आ गया। मगर उसने कोई जवाब नहीं दिया, जो कि मुझे और भी खला और मैंने आवाज़ में और भी तेज़ी लाते हुए कहा—"बोलता क्यों नहीं ? बहरा है ?"

फिर भी कोई जवाब नहीं। जवाब हो भी क्या सकता था, अगर वह सचमुच बहरा था। मगर कौन कह सकता है कि वह बहरा था ही, आजकल इस तरह के बने हुए आदमी.........

लेकिन वाक्य पूरा करने के पहले ही मुझे लगा कि यह मैं गलत बात कह रहा हूं। बने हुए आदमी दिन के वक्त भेस बनाकर भीख मांगा करते हैं—इस तरह रात को किसी के बरामदे में आकर सो नहीं जाते, जाड़े की ऐसी रात में। और, मेरा ध्यान उसके ओढ़ने-बिछौने पर गया। बिछौना निखहरी जमीन और ओढ़ना टाट का एक घिसा हुआ पौन गज का टुकड़ा (और हां एक चिक भी, जो उसने हमारे दरवाज़े से उतार कर अपने ऊपर डाल ली थी)। उस वक्त, जब कि एक गद्दे और एक लिहाफ़ से भी मेरा काम ठीक से नहीं चलता—जी होता है कि और कुछ ओढ़ लें—कैसे कटी होगी इसकी रात ? नींद तो क्या आई होगी ! दांत बजते रहे होंगे, जांघों में हाथ डाले राम का नाम जपता पड़ा रहा होगा, या शायद टहल-टहल कर ही रात काटी होगी। किसने देखा है ? और, किसको दिखाने के लिए यह शक्ल बनाई है ? इन ठंडी सूनी दीवारों को ? बने हुए आदमी ! यह क्या बना हुआ आदमी है। और अपनी बात खुद मुझे सालने लगी।

मगर उस आदमी को इस समय की मेरी आत्मपीड़ा से भी उतना ही कम प्रयोजन था, जितना दो मिनट पहले की कठोरता। ठिठुरते हुए हाथों से चिक दो दरवाज़े पर टांगने के बाद वह अब कच्चे पपीते के बीज, जो तमाम बिखरे हुए थे, बटोर कर एक जगह कर रहा था। लगता है, उसने हमारे ही पेड़ से एक कच्चा पपीता तोड़कर उससे अपनी भूख बुझाने की कोशिश की थी। लेकिन अभी शायद वह पूरी तरह जानवर नहीं बन पाया था, इसीलिए पूरा पपीता नहीं खा सका था। आधा टुकड़ा किसी तरह नोच-नाच कर वह खा गया था और आधा ज्यों-का-त्यों पड़ा था। पपीते के बीज सब इधर-उधर छिटके हुए थे, जिन्हें अब वह बटोर रहा था।

पता नहीं, क्यों उसे इस बात का खयाल आया। वह यह भी सोच सकता था कि जिसका घर है, वह सफ़ाई करवा ही लेगा। मगर नहीं, वह जानवर नहीं है कि सफ़ाई का उसे कोई खयाल न हो। जहां उसने रात गुज़ारी है—जहां से अब वह जा रहा है—उस जगह को गंदा करके वह नहीं जाना चाहता। मैं नहीं कह सकता कि उसके दिल में क्या बात थी। हो सकता है, बस इतनी ही बात रही हो कि यह सब गंदगी साफ़

कर दो, नहीं तो साहब नाराज़ होंगे और यदि अपने नौकर को बुलाकर दस-पांच लात-घूंसे लगवा देंगे। जो भी बात उसके दिल में आई हो और जो भी उसके पहले के तजुर्बे रहे हों, मैं कुछ भी नहीं जानता। मैंने बस इतना देखा कि वह जाड़े के मारे ठिठुरती हुई उंगलियों से जैसे-तैसे गंदगी इकट्ठी कर रहा है।

पता नहीं कैसे-कैसे लोगों से उसका पाला पड़ता होगा, क्या-क्या उस पर बीतती होगी, दुनिया को यह कैसा समझता होगा! आज इनसान जिस तरह तरक्की करता हुआ हज़ारों साल पीछे पहुंच गया है, जबकि वह पहाड़ की गुफ़ाओं और जंगलों में रहता था और इसी तरह नंगा घूमता था, और शायद इसी तरह कच्चे पपीतों पर बसर करता था। इस तरक्की में इस आदमी का क्या हाथ है? और, मुझे पता नहीं क्यों, उस पर बेहद तरस आया। इस पर कि दुनिया में उसका कोई न था, उसके पास कहीं अपनी एक नन्हीं-सी कोठरी भी न थी और बस, इसी आसमान के छप्पर के नीचे उसकी रातें बीतती थीं, और यह कि इस ठिठुरती हुई सर्दी में उसके तन पर बस एक लुगड़ी थी और वह गाय-बैल की तरह कच्चा पपीता खा रहा था।...मगर इन सब बातों से ज्यादा इस बात पर कि उसने एक शब्द भी नहीं कहा। यह नहीं कि वह गीता का प्रवचन देने लग जाता, या आल्हा सुनाने लग जाता, मगर फिर भी कुछ तो वह कह ही सकता था। वह मेरे सामने गिड़गिड़ा सकता था, रो सकता था मगर उसने तो कुछ भी नहीं किया, वह उठकर बैठ गया और चलने की तैयारी में जगह की सफ़ाई करने लगा। उसने न कोई शिकायत की और न कोई फ़रियाद। कैसा अजीब आदमी है? इसने हमसे अगर खाना खिलाने की तलब की होती, तो क्या हम उसे खाना न खिला सकते थे, या कहा होता, तो तन ढांकने के लिए दो-एक कपड़े न दे सकते थे? मगर अब शायद उसे इनसान से इतनी भी उम्मीद बाकी नहीं रही थी। अब तो शायद वह सिर्फ़ इसलिए जी रहा था कि मौत नहीं आती थी और अगर किसी तरह न आई, तो एक रोज़ खुद जाकर हाथ पकड़ कर उसे खींच लाएगा और फिर उसी घिसे हुए टाट के कफ़न में लपेटकर कोई मेहतर उसे घसीटकर कहीं फेंक आएगा।

कहानी कहने में जितनी देर लगती है, वाकये में उतनी देर नहीं लगती। अब उसने सब बीज इकट्ठे कर लिए थे और उन्हें फेंकने बाहर जा रहा था। इस वक्त मैंने उसे बतलाना ज़रूरी समझा कि इस तरह किसी के घर में घुस आना ठीक नहीं होता। अब फिर कभी मत आना। मगर अपने ही कानों में मुझे अपने शब्द खोखले सुनाई पड़े।

वह लौटा और अपना टाट उठाकर चला गया। मैं हक्का-बक्का उसे देखता रहा। मैं कुछ समझ नहीं पा रहा था कि मुझे क्या करना चाहिए। तब तक वह काफ़ी दूर चला गया था। मैंने माया से कहा—"एक कुर्ता-पाजामा तो देते उसे......और हां, एक रुपया भी लेती आना!"

और तब, मैंने भोर के धुंधलके में उस आदमी को आवाज़ दी—"ओ आदमी! ओ आदमी!" क्योंकि उसका नाम मुझे नहीं मालूम था।

वह लौट पड़ा। माया ने लाकर एक कुर्ता-पाजामा और एक रुपया मुझे दिया और मैंने बाहर निकलकर दोनों चीज़ें उसके हाथ में दे दीं। दोनों कपड़े और रुपया लेकर भी उसने कुछ नहीं कहा, कुछ भी नहीं! वह जैसे आया था, वैसे ही चला गया। मैं कुछ देर तक उसे देखता रहा और फिर पता नहीं क्यों, मुझे बहुत ज़ोर से रुलाई छूटी और मुझे अपनी आंखें नम होती मालूम हुईं और फिर अच्छी तरह आंसू बहने लगे। मुझे खुद अपनी इस हालत पर बड़ी हैरानी थी, क्योंकि मैं किसी माने में बहुत नर्म दिल का आदमी नहीं हूं। मगर फिर भी, हर बार जैसे एक लहर-सी उठती थी, जो आकर मुझसे ठकराती थी और मुझे भिगो कर चली जाती थी। माया तब तक भीतर दरवाज़े पर ही खड़ी थी और मैं नहीं चाहता था कि वह या कोई ही मेरे इन बचकाने आंसुओं को देखे। मैं बाहर सड़क पर निकल गया और घूमने लगा। मगर मैं घूम नहीं रहा था—रो रहा था' जैसे रह-रह कर कोई मेरे दिल को मसोस रहा हो।

माया जाने को हुई, तो उसने पुकार कर कहा—"भीतर चलो न, वहां क्या कर रहे हो?"

अपनी आवाज़ की भर्राहट को छिपाने की कोशिश करते हुए मैंने कहा—"अब नींद थोड़े ही आएगी, अच्छी तरह सबेरा हो गया है।"

श्रौर, फिर कोई पन्द्रह मिनट तक मैं वहीं घूम-घूम कर रोता रहा : शायद बरसों बाद मैं इस तरह रोया था। मुझे अपने ऊपर कुछ हैरानी भी मालूम हो रही थी, कुछ शर्म भी आ रही थी और यह सोच कर कुछ खुशी भी हो रही थी कि मेरा दिल अभी मरा नहीं है। मैं नहीं जानता, हो सकता है, इसीलिए मैंने अपने आंसुओं को कुछ ढील भी दे रखी हो। मगर इतना मैं जानता हूं कि वे बेईमान आंसू न थे— शायद उस आदमी के दिल की घुटन थी, जो इस वक्त मेरे आंसुओं की शक्ल में बाहर आ रही थी; क्योंकि मुझे लगता है कि जैसे कभी आग के एक ही गोले से छिटककर यह सारी सृष्टि बनी थी, वैसे ही किसी कुम्हार ने गीली मिट्टी के एक ही गोले से सब इनसानों के दिल भी बनाए थे और उनका साज़ कुछ इस तरह मिलाकर रख दिया था कि एक का दर्द दूसरे के सीने में जाकर बजने लगता है।

रुक्मा

इलाचन्द्र जोशी

रुक्मा सोच रही थी कि ऐसा कैसे हुआ। प्रायः दस वर्ष उसे अपना घर छोड़ कलकत्ता आए हो गए थे। जब से कलकत्ते आई, तब से बराबर खिदिरपुर के उसी गलीवाले पुराने मकान में कभी ऊपर और कभी नीचे के तल्ले के सील भरे कमरे में उसके दिन बीते और रातें भी : विवाह होने के बाद केवल एक बार—पहले ही वर्ष—वह पहाड़ पर कुछ दिनों के लिए अपने मायकेवालों से मिली थी। तब वह सोलह साल की नई ब्याही बहू थी और उसका पति कमलापति उसके प्रति सदय था। तब उसके बर्ताव में कोमलता थी और आज के-से रंग-ढंग नहीं थे। जब वह वापस गई थी, तब पति ने उसके लिए दो-चार नई साड़ियां खरीद दी थीं, जो बहुत भड़कीली थीं और उसके गरीब पहाड़ी गांव के लिए अनोखी और अपूर्व थीं। एक नए बक्स के भीतर वह खूशबूदार तेल की बढ़िया तसवीरवाली रंगीन शीशी, रंगीन ही कंघी, शीशा, पाउडर, किस्म-किस्म की रंग-बिरंगी चूड़ियां, तरह-तरह की चमकीली बिन्दियां, बढ़िया सिंदूर आदि बहुत-सी चीजें बन्द करके ले गई थी। लम्बी यात्रा के बाद जब वह गांव पहुंची थी, तब उसका पोशाक-पहनावा, रंग-ढंग, साज-सजावट, गुलाब-से खिले चेहरे की चमक और सुन्दर-प्रसन्न आंखों की दमक देखकर उसकी सहेलियां चकित रह गई थीं। जैसे वह उनकी बचपन में पहचानी रुक्मा नहीं, स्वर्ग-लोक से उतरी कोई परी हो। अपने मैले-कुचैले,

खेत की मिट्टी से सने कपड़ों से उससे लिपटने का साहस किसी को नहीं होता था। वे केवल अपनी भोली, प्रसन्नता-मिश्रित, विस्मय-भरी आंखों से उनकी ओर टुकुर-टुकुर देखती रह गई थीं। रुक्मा स्वयं ही आगे बढ़कर, एक-एक करके, सभी सहेलियों के गले मिली थी। पर वह देख रही थी और अनुभव कर रही थी कि वे सभी पहले की-सी निश्छलता और स्वच्छन्दता से अब उससे नहीं मिल पाती थीं। वह सचमुच उनसे अब बहुत दूर पड़ गई थी। इस अनुभव से उसका भोला हृदय रो पड़ा था। उसने बार-बार कोशिश की थी कि उसकी सखियां उसे पहले की ही रुक्मा समझ कर हिलें-मिलें और पहले की ही तरह बेतकल्लुफी से खेलें-और कूदें, बातें करें, पर उसका कोई फल नहीं हो पाता था। ऐसा नहीं कि वे अब उसे प्यार न करती हों—उसे देखकर सभी की आंखें प्यार और प्रसन्नता से भर-भर आती थीं, पर साथ ही संभ्रमभरी ईर्ष्या का जो एक सुस्पष्ट भाव उनकी आंखों में झलकता था और उनके बर्ताव से प्रकट होता था, वह रुक्मा को अपने लिए बड़ा ही घातक और मारक लगा था। उसे लगा था कि वह अपनी सखियों से और अपने घरवालों से केवल पहाड़ से कलकत्ते जाकर ही दूर नहीं हुई, उनके निकट आने पर भी वह दूरी वैसी-की-वैसी बनी रह गई है, बल्कि और अधिक बढ़ गई है। एक महीने मायके रहकर जब वह उन सब लोगों से विदा होने लगी थी, तब उसके पति, चाचा और विधवा फूफी के अतिरिक्त उसकी सखियां और गांव की कुछ बड़ी-बूढ़ियां भी उसे प्रायः दो मील तक पहुंचाने गई थीं। सबको लग रहा था, जैसे गांव से कोई बड़ी निधि जा रही हो। वह घर में रंगाई गई बड़ी-बड़ी लाल बुंदकियों वाली पिछौरी के नीचे कत्थई रंग का लहंगा पहने थी। नाक के कुछ ही ऊपर से मांग तक उज्ज्वल लाल रंग का एक लम्बा टीका उसके मस्तक की शोभा बढ़ा रहा था। सभी समवयसी और जवान स्त्रियों को उसके सौभाग्य पर ईर्ष्या हो रही थी और वे सब उसके प्रायः सैंतीस-अड़तीस साल की उम्र वाले पति की ओर ललकती हुई आंखों से देख रही थीं—उसे रुक्मा के इतने बड़े भाग्य का विधायक जान कर दो मील के बाद सभी स्त्रियां

वापस जाने लगीं। रुक्मा ने फूफी और बड़ी-बूढ़ियों को प्रणाम करके और सखियों के गले मिल कर गीली आंखों से सबसे विदाई ली। उसके बाद रह गए उसके चाचा, उसका पति, एक कुली और वह स्वयं। मोटर-स्टेशन तक पहुंचने के लिए तीन मील और चलना था। कुछ दूर तक चढ़ाई पर चलने के बाद उतार आ गया और वह लोग तेज कदम रखते हुए अन्तिम मोटर के छूटने के कुछ ही समय पहले पहुंचे। मोटर पर उन लोगों को चढ़ा कर चाचा भी रुक्मा का प्रणाम लेकर और स्नेह-रस से भरी और विछोह की व्यथा में डबडबाई आंखों से दोनों को आशीर्वाद देकर विदा हुए। मोटर संध्या को काठगोदाम पहुँची। तब तक गाड़ी नहीं छूटी थी। जब रुक्मा पति के साथ गाड़ी पर इत्मीनान से बैठ गई, तब चारों ओर के पहाड़ों को उसने एक बार जी भर कर देखा। एक ठंडी आह उसके अन्तर से निकल आई। गाड़ी छूटी और उसने मन-ही-मन उन हरे-भरे पहाड़ों को प्रणाम किया।

तब से फिर कभी उन पहाड़ों के दर्शन उसे नहीं हुए। पूरे दस वर्ष बीत चुके थे। तब की स्थिति में और आज की स्थिति में कितना बड़ा अन्तर आ गया, वह यही सोच रही थी। गर्मी के दिन थे, दोपहर का समय था। भीतर से दरवाजा बन्द करके वह फर्श पर लेटी हुई थी। उसका पति दफ्तर में था और वह घर पर अकेली थी। पति कमलापति जहाज की किसी कम्पनी के माल के दफ्तर में एक साधारण क्लर्क की हैसियत से काम करता था। लड़ाई के जमाने में उसने दूसरे कर्मचारियों के साथ मिल कर हजारों रुपया कमाया था। तब अन्धाधुन्ध और बेहिसाब का माल सिपाहियों के लिए बाहर जाता था और आता था। उसकी लूट भी बीच में उसी अन्धाधुन्ध तरीके से होती थी। कमलापति मालामाल बन गया था—शराब में, जुए में और दूसरे अपकर्मों से दोनों हाथों से रुपये लुटाता था। उन्हीं दिनों उसके पहले विवाह की स्त्री की मृत्यु हो गई। दूसरा विवाह करने के लिए वह घर गया। उसने अपने आदमियों से कहा कि वे एक अच्छी लड़की ढूंढें और इस बात की तनिक भी परवाह न करें कि लड़की के घरवाले

गरीब हैं या धनी, सामाजिक दृष्टि से ऊंचे हैं या नीचे। लड़की सुन्दर चाहिए, बस। फलस्वरूप रुक्मा का आविष्कार हुआ। वह वास्तव में बहुत सुन्दर थी। वह स्वयं भी प्रति दिन सखियों के मुंह से अपने रूप की प्रशसा सुनते रहने और स्त्री-पुरुषों की ललचाई आंखों को अकसर अपनी ओर गड़ी हुई देखने से यह जान चुकी थी कि उसके चेहरे में कुछ विशेषता है। जो भी हो, एक दिन कमलापति स्वयं अपनी आंखों से देखने के लिए बढ़िया सूट-बूट और कालर-टाई से सुसज्जित होकर, एक छडी हाथ में लेकर, जब रुक्का के गांव पहुंचा, तब रुक्मा अपनी गाय के लिए घास का एक गट्ठर सिर पर लाद कर जा रही थी। उस दिन की याद रुक्मा को अच्छी तरह थी। उसने कमलापति को देख कर समझा था कि कोई बड़ा सरकारी अफसर होगा वह सहम गई थी और, भय से कांपने लगी थी। भय का कारण वह स्वयं नहीं जानती थी। और, जब उसने देखा था कि उस 'अफसर' के साथ के दो आदमी उसी की ओर उंगली से इशारा कर रहे हैं, तब तो उसके भय का ठिकाना न रहा था। धड़कते हुए हृदय से तेजी से अपने घर की ओर भागी थी।

कमलापति को पहली ही दृष्टि में वह पसन्द आ गई। वह उसके चाचा से मिला। रुक्मा के माता-पिता दोनों ही बहुत ही पहले गुजर चुके थे। उसके चाचा और विधवा फूफी ने उसे पाल-पोसकर बड़ा किया था। वे लोग बहुत ही साधारण किसान थे। उस दिन केवल मिलना ही हुआ। उसके बाद एक दिन कमलापति के आदमियों ने विवाह की बातचीत चलाई, तब तक चाचा को अपने भाग्य पर पहले विश्वास नहीं हुआ। वर की उम्र लड़की से प्राय: ढाई गुणा अधिक जान कर भी उनके उत्साह में कमी नहीं आई। पढ़ा-लिखा, पैसेवाला, उन लोगों की अपेक्षा कई गुणा अधिक ऊंचे कुलवाला वर उन लोगों को कहां मिलता ? फलत: शादी तत्काल तय हो गई और रुक्मा जल्दी ही एक दिन 'अफसराइन' बन गई। गांव के लोग सचमुच उसे स्नेहपूर्ण परिहास में 'अफ़सराइन' कहने लगे। वह सुनती, सिर नीचा करके मुसकराती और मन-ही-मन गर्व का अनुभव करती।

रुक्मा को कलकत्ते लाने पर, प्रारम्भ में प्राय: एक वर्ष तक, कमलापति ने काफ़ी आराम और प्यार से रखा। वह अकसर उसे टैक्सी पर बिठाकर कभी सिनेमा दिखाने ले जाता, कभी थियेटर। कभी छुट्टी के दिन घुड़दौड़ के मैदान में ले जाता, कभी बोटैनिकल गार्डन की सैर कराता। तरह-तरह की रंग-बिरंगी साड़ियां और गहने भी उसने उसके लिए खरीदे। एक बंगाली नौकरानी उसके साथ के लिए रखी। चूल्हा-चौका करनेवाली नौकरानी अलग से आती थी। रुक्मा पहाड़ से विछोह का अनुभव सब समय करते रहने पर भी एक प्रकार से खुश थी। पति का प्यार पाकर उसे सन्तोष था, हालांकि तब भी कमलापति अकसर रात में देर से आता और जब आता, तो उसके मुंह से विकट दुर्गन्ध आती और उस हालत में उस का व्यवहार जंगलियों और उजड्ड लोगों का-सा रहता। फिर भी, वह सन्तुष्ट थी, क्योंकि तब वह जानती थी कि वह उसे प्यार करता है।

पर दूसरे ही वर्ष से स्थिति एकदम बदल गई। लड़ाई खत्म हो गई और सिपाहियों के लिए अन्धाधुन्ध माल का भेजा जाना एकदम बन्द हो गया। कमलापति और उसके साथियों की ऊपरी आमदनी प्राय: शून्य के बराबर रह गई। केवल वेतन शेष रह गया, जो डेढ़-सौ से अधिक नहीं था। 'सुकाल' के दिनों में जो हजारों रुपये उसने कमाए थे, उनमें से एक पाई भी बचा नहीं पाया था। जितने भी रुपए हाथ में आते गए, उन्हें वह मुक्तहस्त होकर फूंकता चला गया था।

रुपया चला गया था, पर बिगड़ी हुई आदतें बची रह गई थीं। शराब का चस्का नहीं छूट पाता था और जुए की इल्लत घटने की बजाए और बढ़ गई थी। रुपया न रहने पर किसी भी हताश आदमी के लिए जुआ यों भी एक बहुत बड़ा आकर्षण बन जाता है—फिर, जिसे पहले से ही आदत पड़ी हुई हो, उसे तो उस हालत में जुए के पीछे अपना सर्वस्व गंवा कर भी संतोष नहीं हो सकता। फल यह हुआ कि एक-एक करके रुक्मा के गहने गायब होते चले गए। दोनों नौकरानियां अलग कर दी गईं। सिनेमा और थियेटर जाना तो बन्द हुआ ही,

कमरे से बाहर निकल पाना भी रुक्मा के लिए दुश्वार हो गया। पहले उसी मकान के ऊपर जो अच्छे और हवादार कमरे कमलापति ने किराए पर ले रखे थे, उनका किराया ज्यादा रहने के कारण सबसे नीचे के तल्ले में सील और बदबू से भरा एक कमरा, जो संयोग से खाली ही पड़ा था, सस्ते किराये पर ले लिया। रुपये-पैसे की तंगी के कारण कमलापति के स्वभाव में भी बहुत बड़ा अन्तर आ गया। केवल उसके मिजाज में ही चिड़चिड़ापन नहीं आया, बल्कि वह शक्की भी हो गया। बात-बात में वह रुक्मा के चरित्र के सम्बन्ध में सन्देह प्रकट करने लगा। दिन में अपने निपट अकेलेपन से उकताकर वह कभी-कभी उसी मकान में ऊपर के तल्ले के अपने पुराने पड़ोसियों के यहां स्त्रियों के साथ बैठने चली जाती थी। दो परिवारों से उसकी विशेष घनिष्ठता थी, जिनमें एक बंगाली था और दूसरा पंजाबी। बंगाली से भी अधिक पंजाबी परिवार से उसका हेल-मेल था। वह न तो बंगला ही ठीक से समझ पाती थी, न बंगाली हिन्दी। पंजाबी परिवार की स्त्रियों को वह अपने अधिक निकट पाती थी। एक दिन कमलापति दफ्तर से कुछ जल्दी चला आया। रुक्मा को ढूंढ़ने पर पता चला कि वह ऊपर के तल्ले में पंजाबियों के कमरे में है। जब रुक्मा नीचे आई, तब उसने उसे बुरी तरह डांटना और बुरा-भला कहना आरम्भ कर दिया। क्रोध से कांपता हुआ वह बोला—"मैं जानता हूं कि ऊपर जो एक पंजाबी छोकरा रहता है, वह जवान है और मुझसे ज्यादा खूबसूरत है। इसी लिए उस पर तुम्हारी नजर गड़ी हुई है। यह न समझना कि मैं अन्धा हूं। तुम दोनों को एक दिन वह मजा चखाऊंगा·····"आदि-आदि।

पहले तो रुक्मा कुछ समझ ही न पाई। पर दूसरे ही क्षण उसकी बात के भीतर छिपा हुआ एक अस्पष्ट संकेत उसके आगे धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगा। वह थर-थर कांपती हुई मूढ़ दृष्टि से उसकी ओर देखती रह गई। उसकी ओर देखते हुए पहली बार उसे लगा कि वह इधर सचमुच पहले से बहुत कुरूप हो गया है। कमलापति को हिंस्र आंखों के इर्द-गिर्द, उसके कपाल में और गालों पर जो टेढ़ी-मेढ़ी झुर्रियां इधर कुछ समय में पड़ गई थीं, वे इस समय और अधिक विकट और

भयंकर दिखाई देने लगीं। देख कर वह इस कदर डर गई कि उसके मुंह से अपनी सफाई में एक भी शब्द नहीं निकल पाया। उसने चुपचाप उसकी ओर से पीठ फेर ली और अंगीठी में कोयले डाल कर चाय का पानी चढ़ाने की तैयारी करने लगी।

आज सुबह जो घटना घट चुकी थी, उसी सिलसिले में रुक्मा को सीमेंट पर लेटे-लेटे वे सब पुरानी बातें एक-एक करके याद आ रही थीं। वह सोच रही थी कि एक ओर वह इस कदर शक्की बन गया था और दूसरी ओर यह हाल था कि जब कभी कोई आगा ब्याज का रुपया वसूल करने के लिए सवेरे ही घर आकर दरवाजा खटखटाता, तब वह स्वयं गुसलखाने में छिप जाता और रुक्मा से कहता कि दरवाजा खोल कर उससे कह दो कि घर पर नहीं हैं—दो एक दिन बाद स्वयं तुम्हारे घर जा कर रुपये दे आएंगे। आगा लोगों की आकृति, गुण, स्वभाव, चरित्र और पेशे के सम्बन्ध में रुक्मा को कोई जानकारी नहीं थी। जब पहली बार उसने एक भीमकाय आगा को लम्बी लाठी हाथ में लिए दरवाजे पर खड़ा देखा और विचित्र उच्चारण के साथ उसका गर्जन सुना, तब उसे लगा, कि मारे भय के वह मूर्छित होकर गिर पड़ेगी। किसी तरह कांपते हुए गले से उसने अपने पति की बात अपनी ओर से दोहराई। आगा ने गरजते हुए कहा—"परसों रुपया जरूर मिल जाना चाहिए, नहीं तो नतीजा अच्छा न होगा।" सुन कर रुक्मा ने हड़बड़ाते हुए दरवाजा बन्द कर लिया और दुःख, क्रोध, लज्जा और भय से रो पड़ी।

अकसर शनिवार को रात भर और इतवार को दिन भर कमलापति के यहां उसके जुआरी साथियों की बैठक जमती। कमरे के आर-पार एक काला पर्दा टांग दिया जाता। एक-चौथाई भाग में रुक्मा सिकुड़कर बैठी या लेटी रहती और शेष तीन-चौथाई भाग में जुआ होता और देसी शराब के दौर चलते रहते। बीच-बीच में जुआरी बुरी तरह लड़ते-झगड़ते और एक-दूसरे को बहुत गन्दी और अश्रव्य गालियां देने लगते। सुन कर रुक्मा का शरीर और मन लज्जा, घृणा और ग्लानि से कंटकित हो उठता। फिर, कुछ ही समय बाद, अट्टहास और

परस्पर प्रेमालाप चलने लगता। रुक्मा को कई बार उन लोगों को चाय पिलानी पड़ती और कभी-कभी खाना भी खिलाना पड़ता। पता नहीं, जुआ खेलने के दिन कमलापति के पास रुपया कहां से आ जाता और चाय, चीनी और दूसरा सामान कहां से आकर जुट जाता। रात भर जगे रहने के बाद दूसरे दिन जब वह कमरे की सफाई करती, तब फर्श पर पड़े सिगरेटों और बीड़ियों के जले हुए टुकड़ों का ढेर उसे बटोरना पड़ता। कमलापति जीता या हारा, इसका पता उसे आसानी से लग जाता। जिस दिन वह हारा होता, उस दिन रुक्मा पर किसी-न-किसी बहाने बुरी तरह मार पड़ती और बात-बात पर गन्दी-से-गन्दी गालियों की बौछार होती और जिस दिन वह जीता होता, उस दिन बड़े ही प्रेम और सान्त्वना के स्वर में कमलापति कहता—"तुम घबराती क्यों हो ? मैं आज ही तुम्हारे लिए पहले से भी बढ़िया गहने और कपड़े खरीद दूंगा। जल्दी ही हम लोगों के दुख के दिन दूर हो जाएंगे।" पर फिर कभी न गहने खरीदे जाते न कपड़े। दूसरी बार फिर उस पर उसी तरह मार पड़ती और गालियां बरसने लगतीं। जीत के दिन कभी-कभी ही आते, अधिकतर हार की ही प्रतिक्रिया का सामना रुक्मा को करना पड़ता।

इस बार भी शनिवार को रात भर जुआ होता रहा, पर दूसरे दिन इतवार को किसी कारण से जुआरी नहीं जुट पाए। दिन के बदले इस बार इतवार को भी रात में बैठक जम गई। लगातार दो रातों के जागरण का फल यह हुआ कि रुक्मा के न चाहने पर भी सुबह चार बजे के करीब बरबस बेखबर होकर पर्दे के उस पार जमीन पर लेट गई। उसके बाल बिखरे हुए थे और साड़ी अस्त-व्यस्त पड़ी थी। साढ़े पांच बजे के करीब जब सभी जुआरी चले गए, तब कमलापति ने पर्दा हटाया। रुक्मा को बेखबर बाईं करवट देखकर उसका पांव खुजलाया और उसने खींचकर एक लात जमाई। अर्द्धजागरण की-सी अवस्था में रुक्मा ने करवट बदलते हुए कहा—"क्या बात है ?" और फिर उसी क्षण उसकी आंखें बरबस मुंद गईं। कमलापति ने पूरी ताकत से एक दूसरी लात मारी और फिर तीसरी और चौथी.........। आंखें मलती

हुई रुक्मा हड़बड़ाती हुई बोली—"यह क्या कर रहे हो ?"

"हरामज़ादी तुझे शरम नहीं आती इस तरह बेहूदा ढंग से लेटते हुए ! उठ झट-से एक प्याला चाय तैयार कर। रात भर का जगा हूं। इतनी देर तक एक प्याला चाय भी नहीं मिली। ऐसी औरत के साथ गिरस्ती चलाने से तो मर जाना अच्छा है !"

रुक्मा एक शब्द भी न बोली। साड़ी के छोर को सिर के ऊपर सरकाती हुई चुपचाप उठी और अंगीठी जलाने लगी।

दिन में जब कमलापति दफ्तर चला गया, तब आज बहुत दिनों के बाद उसे अपनी सारी स्थिति पर विचार करने की इच्छा हुई। किवाड़ बन्द करके वह सीमेंट के ऊपर ही लेट गई। दरी भी उसने नहीं बिछाई। गर्मी बहुत कड़ी थी और भीतर दम घुटा जा रहा था। उसके पास हाथ का पंखा भी न था। एक फटा-पुराना अखबार मोड़-कर उसी से कुछ क्षण हवा करती रही, बाद में उसे भी छोड़ दिया। गली में अपेक्षाकृत सन्नाटा था, पर गली के पास ही, पूरब की ओर, बड़ी सड़क से निरन्तर मोटरों और ट्रामों की घर-घर ध्वनि, भोंपू और घंटी की आवाज़ आकर मन की और बाहर की शांति भंग कर रही थी।

लेटी-लेटी वह सोचने लगी कि उसके जीवन की गाड़ी कहां-से-कहां जाकर टकराई और कहां आकर दलदल में फंस कर रह गई। ठीक इन्हीं शब्दों में सोचने की बुद्धि उसमें नहीं थी, पर उसके बहुत चोटें खाए हुए, पीड़ित और तपे हुए अन्तर से भाप की तरह निकलने वाले भावों की अस्पष्ट रूपरेखा कुछ इसी प्रकार की थी। उसे उस दिन की याद आ रही थी, जब उसकी सखियां और गांव की दूसरी स्त्रियां ललकती हुई आंखों से उसे और उसके पति की ओर देखती हुई उसके सौभाग्य के प्रति ईर्ष्यालु-सी हो उठी थीं। न जाने कितने युग बीत गए उसे पहाड़ को छोड़े ! कलकत्ते के ऊंचे-ऊंचे, पाषाण से भी कठोर धातु के बने भवनों और मनुष्य के अस्तित्व की तनिक भी परवाह न करने वाली बड़ी-बड़ी मोटरों और ट्रामों के बीच में दस वर्ष

तक रहने स उसका हृदय भी जैसे पथरा गया था और वह अपने अस्तित्व के उस मूल स्रोत को ही भूल गई थी, जिसमें उसका प्रारम्भिक जीवन लहलहाया था। वह स्रोत भरी जवानी के तट पर आते-न-आते न जाने किस भीषण रेगिस्तान के भीतर फंस कर, सूख कर, उससे कट कर रह गया। कलकत्ते में लाखों आदमी रहते हैं, पर अपने दस वर्ष के जीवन में कहीं किसी मनुष्य के सहृदय प्राणों का स्पर्श तो क्या, छाया तक उसने नहीं पाई थी। वे सब मनुष्य उसके लिए जैसे किसी निराले ही लोक के विजातीय जीव थे। वे प्रेत, पिशाच, भूत, बेताल, यक्ष दानव या इसी तरह की किसी और योनि के प्राणी भले ही हों, पर मनुष्य नहीं थे। वह उनसे चारों ओर से घिरी रहने पर भी, किसी निर्मम जादूगर के विचित्र अभिशाप से उनके संग-स्पर्श से एकदम परे थी। उनकी सांस भी उसकी सांस से आकर नहीं टकराती थी और जिन लोगों से, जिस ऊंची पहाड़ी धरती से, उसके प्राण कभी एक रूप में बंधे थे, उन लोगों से भी कितनी दूर वह पड़ गई थी। न जाने कितने असंख्य योजनों का –कितने अनन्त युगों का—व्यवधान उनके और उसके बीच में पड़ गया था। उसकी निद्रालु आंखें झपती चली जा रही थीं और साथ ही उसके अन्तर्लोक से उठने वाली भाव-छायाएं विचित्र से विचित्रतर, अस्पष्ट से अस्पष्टतर रूप धारण करके उसके सिर के भीतर चक्कर काटती हुई, एक अनोखा, उद्दाम और उच्छृंखल नृत्य-सा करने लगी थीं।

सहसा उसने अनुभव किया कि उसका शरीर हलका होता चला जा रहा है। दूसरे ही क्षण वह रूई से भी हलके होकर आकाश में उड़ने लगी और बहुत दूर तक उड़ने के बाद जब नीचे उतरी तो उस ने अपने को एकदम बदली हुई पाया। साड़ी और जम्फर की जगह उस का शरीर लहंगा, पिछौरी और अङ्गिया से ढका हुआ था। उसे आश्चर्य हो रहा था कि वह चौदह-पन्द्रह बरस की लड़की कैसे बन गई। उसके चारों ओर ऊंचे-ऊंचे पहाड़ थे। वह स्वयं एक ऊंचे टीले पर खड़ी थी। बहुत दूर नीचे, एक छोटी-सी नदी के किनारे, एक गांव था। लगता था, जैसे चारों ओर चांदनी छिटकी हुई है! सर्वत्र सन्नाटा

छाया था। वह गला फाड़कर किसी को हांक लगाना चाहती थी, पर आवाज निकलती ही नहीं थी। न जाने कहां कोई चिड़िया बहुत ही धीमे स्वर में, कुछ क्षणों के अन्तर से, बोल रही थी। वह बोलना क्या था, लगता था, जैसे अपनी दो नन्हीं-सी चोंचों से सिसकारी भर रही हो, जैसे वह उस सारे सन्नाटे के हृदय का स्पन्दन हो। वह उस सारी पहाड़ी प्रकृति में—सारे विश्व में—अपने अकेलेपन की अनुभूति से घबरा उठी। वह रोना ही चाहती थी कि सहसा उसके कान खड़े हुए— लगा कि उल्लास-भरे स्वर में गानेवाली स्त्रियों और पुरुषों की एक टोली नीचे के किसी स्थान से ऊपर की ओर चली आ रही है। आनन्द राग में मस्त स्त्रियों और पुरुषों का वह दल निकट से निकटतर आता चला गया। कुछ ही समय बाद उसने देखा कि वे लोग उसके बिलकुल पास आ पहुंचे। सबके कपड़े होली के विविध रंगों से रंगे हुए थे। उसने अपने कपड़ों की ओर देखा। उनमें भी लाल, हरे और वसन्ती रंगों के छींटे न-जाने कहां से पड़ गए थे। वह दौड़ती हुई नीचे उतरी और स्त्रियों की टोली में जा मिली और उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाती हुई पूरी तरह से गला खोलकर गाने लगी। उसे आश्चर्य हुआ कि उसका गला अचानक अपने आप कैसे खुल गया। टोली एक ऐसी जगह पहुंची जहां मैदान था। वहां पहुंचकर स्त्रियों ने रास-मंडल की तरह एक गोल बांध लिया और पुरुषों ने भी अलग एक गोल घेरा बना लिया। ये लोग ताल और लय में नाचने और गाने लगे। रुक्मा के आनन्द और उल्लास की सीमा नहीं थी। वह मुक्त कण्ठ से गा रही थी और स्वच्छन्द गति से नाच रही थी। अपने अगल-बगल वह जिन दो लड़कियों का—सम्भवतः अपनी सहेलियों का—हाथ पकड़कर कभी बाएं और कभी दाएं झुक कर नाच रही थी, उनमें से एक ने कहा—"अरी रुक्मा, यहां कहां आकर नाचने लगी! तेरी तो शादी हो गई है। तू तो 'अफसराइन' बन गई है। तेरा वह अफसर देखेगा, तो क्या कहेगा ?"

"कहां हुई मेरी शादी ?" रुक्मा ने भार-मुक्त हृदय से निकले हुए आराम के उच्छ्वास के साथ कहा—"पगली कहीं की! वह तो सपना था—मैंने तो तुझे बताया था !"

फिर सहसा उसका हृदय धड़क उठा—यह सोचकर, कि कहीं सचमुच उसकी शादी हो न गई हो ग्रौर वह भूल रही हो। गोल से अलग होकर वह शंकित हृदय से एक अधेड़ स्त्री के पास पहुंची, जो एक किनारे खड़ी थी। "तुम्हीं बताओ मौसी, क्या मेरी शादी हो गई है ?"—उसने पूछा। पर उस औरत ने कोई उत्तर नहीं दिया। इसी तरह, तीन-चार ग्रौरतों से उसने बड़ी ही चिन्ता के स्वर में पूछा, पर सब मुसकरा कर चुप रह जाती थीं—कोई कुछ उत्तर नहीं देती थी। वह पागलों की तरह इधर-उधर दौड़ने लगी। कौन करेगा उसकी शंका का समाधान ? क्या सचमुच उसकी शादी हो चुकी है ? नहीं, नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। उसके साथ की इतनी लड़कियों में से जब किसी की शादी नहीं हुई, तब उसी की क्यों होगी। पर ये लोग पूछने पर भी कुछ जवाब क्यों नहीं देते ? वह उसी घबराहट में पुरुषों में पहुंची। वह एक-एक करके सबको पहचानने की कोशिश करने लगी। जिसे भी देखती, पहली झलक में उसे लगता कि उसे वह पहचानती है, पर फिर उसका रूप बदल कर कुछ का कुछ हो जाता। सहसा उसने देखा कि कमलापति भी उसी मंडली में नाचता हुआ गा रहा है। "ये लोग कौन हैं ?"—उसने अपने आप से पूछा—"यह मैं कहां आ गई हूं ? मुझे दूसरी जगह जाना चाहिए।" दूसरे ही क्षण वह मंडली जुए की बैठक में बदल गई। "नहीं, मैं तो यहां नहीं थी। मुझे भागना चाहिए।" यह सोचती हुई वह दौड़ कर नीचे की ओर गई। वहां अठारह साल के एक लड़के को देख कर उसने पूछा—"सुनो जी, तुम कौन हो ?" वह लड़का मुसकराया और उसकी आकृति स्पष्ट से स्पष्टतर होती गई। पहचान कर वह उल्लास में उछल पड़ी और उसकी सारी घबराहट जाती रही। वह तिलोक सिंह था—उसका पुराना साथी, दोपहर में गायों और भैंसों को चराता हुआ एक टीले पर पीठ अड़ा कर बड़े ही मीठे स्वर में बंशी बजानेवाला।

"अरे तिलोकिया, तू यहां कहां ? तू ही बता, क्या मेरी शादी हो गई है ?"

"नहीं पगली, अभी से कैसे तेरी शादी होगी ! तू क्या सपना देख रही है ? जब मेरी शादी होगी, तब तेरी भी होगी । बैठ, मैं वंशी बजाता हूं, तू सुन ।"

चैन की सांस लेती हुई रुक्मा बैठ गई । तिलोक सिंह जेब से वंशी निकाल कर बजाने लगा - वही पुराना मीठा, उदासी से भरा, पहाड़ी राग ! रुक्मा मग्नमन होकर तिलोक सिंह के सरस, सहृदयता से भरे, सुन्दर मुख की ओर एकटक देख रही थी । इतने में होली के राग-रंग में मस्त स्त्रियों और पुरुषों की सम्मिलित टोली पहले की ही तरह मस्ती में गाती हुई वहां पहुंच गई । रुक्मा फिर निश्चिन्त और भार मुक्त मन से उनके साथ मिल गई और पूरी ताकत से उनके उल्लसित स्वर में स्वर मिलाती हुई, नाचने और कूदने लगी । एक अलौकिक उन्माद—एक स्वर्गीय रोमांच—से उसका सारा शरीर, सम्पूर्ण हृदय और समग्र आत्मा पुलकित हो उठी थी । तिलोक सिंह भी उसके उल्लास से प्रभावित होकर उसी के स्वर का साथ देता हुआ वंशी बजाता जाता था । धीरे-धीरे वह और तिलोक सिंह दोनों आगे बढ़ गए और सारे गायकदल का नेतृत्व करने लगे ।

इतने में सहसा पास ही जैसे कोई पहाड़ फड़फड़ाता हुआ टूट कर गिर पड़ा । रुक्मा चौंक उठी । उसने आंखें खोलीं । बाहर दरवाजे पर बड़े जोरों से 'ठक-ठक-ठक' शब्द हो रहा था ।

"कौन है ?"—हड़बड़ा कर रुक्मा ने पूछा ।

"हम हैं, आगा !" गुरु-गंभीर गर्जन के साथ बाहर से आवाज आई ।

सुन कर रुक्मा धक से रह गई । उसे लगा कि उसकी आत्मा उड़कर न जाने कहां, पहाड़ों के भी बहुत ऊपर, पहुंच चुकी है । केवल उसका मृत शरीर सीमेंट पर पड़ा हुआ है, जिसे उठाकर ले जाने के लिए बाहर दरवाजे पर यमदूत खड़ा है ।

●

संशोधन

उषादेवी मित्रा

(1)

दिन में झड़ी और रात्रि में घोर वर्षा जारी थी। इन्हीं दोनों के गले में बाहें डाले संसार में अपना बसेरा डाले हुए थीं, दिवा और निशा। न उन्हें विजली और वर्षा का दुख और चिन्ता रही थी और न शीत की शीतलता का तथा उत्तप्त गर्मी के लू-लपटों का भय। वे शायद इनसे परिचय और सखीत्व भी स्थापित कर चुकी हों, तो विस्मय नहीं। उनकी बातें वे ही जानें।

रेवती को जव उसके पति रणधीर बहादुर के साथ उस प्रकाण्ड किन्तु अर्द्ध-जलमग्न प्रासाद में प्रवेश करते हुए दिवा और निशा ने देखा, तो उदासीनता भरी मुसकान उनके मुख पर व्याप्त हो गई और फिर वायु के झोके में दोनों समा गई।

उस घर में प्रवेश करते हुए रेवती बार-बार सिहरने लगी। न जाने क्यों, उसके प्रत्येक लोमकूप में एक अद्भुत और विचित्र अशांति जाग कर बैठ गई।

प्राणिवर्जित गृह—न तो कोई नववधू का स्वागत करने को आया और न शंख का निनाद हुआ; न बाजे बजे, न खुशी की एक चिनगारी ही दिखाई दी। साईस गाड़ी पर से सामान उतार कर, सीढ़ियां पार करता हुआ, ऊपर की मंजिल में चढ़ने लगा।

रणधीर बहादुर ने पुकारा—"लछिया, ओ लछिया !"

एक वृद्धा नारी आंगन का दूसरा दरवाजा खोलती हुई पहुंची—"हां मालिक ! आहा, हमारी नई रानी बहू भी आ गई हैं ! परन्तु महाराज ने न कोई तार दिया और न और किसी तरह आने का संदेश भेजा। राजबहू का आदर-सत्कार कुछ नहीं किया गया। आज कितने दिनों के बाद यह राजमहल गुलजार हो रहा है। रानी बहू शीतला देवी के स्वर्गवास के बाद वर्षों से राजप्रासाद खाली पड़ा था !"

तब अन्धकार धीरे-धीरे बांह बढ़ाकर मानो प्रासाद को निगलता चला जा रहा था।

राजा ने धीरे से कहा—"नौकरों को बुलाओ। सब कहां चले गए ? प्रासाद में उजाला करो।"

नौकर सब पहुंच गए। उज्ज्वल प्रकाश से महल जगमगा उठा। रणधीर ने लौट कर रेवती को देखा। उसके अनावृत मुख को देखकर रणधीर विस्मित हुआ। बांह बढ़ा कर उसने रेवती को समेट लिया। फिर अर्द्ध मूर्छित पत्नी को उठा कर ऊपर चला गया।

रेवती जब स्नान कर निकली, तब रणधीर ने अपने हाथों से उसे हीरा-मुक्ता के अलंकारों से भूषित कर दिया। सहसा रेवती ने पूछा—"ये जेवर किसके हैं ?"

"ये ? ये आभूषण, इस राजप्रासाद के भग्नावशेष, स्वयं मेरी मां के हैं।"

"क्या आप राजा हैं ? परन्तु मेरी कुटिया में और मेरे पालक पिता के सामने तो आपने यह सब कुछ नहीं बताया था।" उसके बाद रेवती विस्मय-विस्फारित नेत्रों से उस गृह का वैभव देखने लगी।

रणधीर हँसा—विषादपूर्ण ; बोला—"कभी एक दिन मैं इस छोटे-से गढ़ का राजा था। लेकिन आज तो सरकार से पैंशन मिलती है, कई हजार। बस, उसी से गुजारा होता है।"

लछिया पहुंची—"महाराज, रानी साहिबा को कालिका देवी के मन्दिर में ले चलिए।"

"नहीं, इतनी रात को रानी वहा न जाएंगी। इन्हें भोजन करा-कर इनके कमरे में सुला दो।"

(2)

रेवती का मन प्रफुल्लित था, अत्यन्त प्रफुल्लित। सोचती—"इतना ऐश्वर्य! और, यह है पूर्व ऐश्वर्य का भग्नावशेष!" रेवती राजमहल को घूम-घूम कर देख रही थी। नीचे के वृहत दरबार गृह का ताला उसने खोला। उसे देख कर वह अवाक हो गई। चांदी का सिंहासन, कोच, कुर्सियां और चांदी की मूंठ लगीं तलवारें—दीवारों पर चांदी के फ्रेम में आबद्ध वृहत-वृहत तैलचित्र। चित्रों के नीचे नाम लिखे थे। उन चित्रों को रेवती ने आंख गड़ा कर देखा और पहचान कर श्वसुर के चित्र को प्रणाम किया—सास को भी। पति के तैलचित्र को वह मुग्ध होकर देखती रही। मन ने कानों में कहा—"यौवन-अवस्था में कितना सुन्दर था रणधीर!" और, तुरन्त उसने गुनगुना कर कहा—"अब भी क्या वे असुन्दर हैं?"

फिर एक स्थूल-सी नारी के चित्र के सामने खड़ी हो, वह सोचने लगी—"यही थी प्रथम राजवधू! एक सीधी-सादी नारी।"

रेवती नीचे के तल्ले से ऊपर चढ़ी, अपने कमरे में पहुंची। कमरे की सफाई हो चुकी थी, किन्तु फिर भी सुहागरात की नवोढ़ा वधू का दीर्घश्वास दीवारों पर टकराता हुआ, माथा पीटता फिर रहा था। रेवती ने लज्जा से आंचल में मुंह ढांक लिया। लज्जा-लज्जा, नारी की पराजय की लज्जा। सुहागरात के एकाकीपन की लज्जा। अरे कहां—विश्व के किस कोने में वह इसे छिपा कर रखे?

रेवती धीरे-धीरे कमरे में टहलने लगी। दीवार पर टंगे हुए बृहत दर्पण पर उसके नेत्र गए। निगाह पड़ते ही वह सिहर कर हट गई। हां, अपनी ही आकृति को देख कर वह सिहरी! क्यों? सो तो वही जाने। रेवती धीरे से बाहर निकली। अत्यन्त सुन्दर फूलों से सजे हुए दालान को पार करती हुई वह चली और अपने बगलवाले कमरे के द्वार पर हठात रुकी। कमरे के द्वार पर सुन्दर किन्तु पुरातन

परदा लटक रहा था। कौतूहलवश उसने धीरे से वह परदा हटाया और स्थाणुवत अचल रह गई। फिर कब उसके पैर उठे और कब वह सुप्त पति के पलंग के निकट पहुंची, यह वह स्वयं भी नहीं जान सकी।

दासी की पुकार से उसकी चेतना लौटी। किन्तु यह देखकर रेवती अत्यन्त विस्मित हुई कि दासी की इतनी चीत्कार-पुकार से भी उसके पति की निद्रा भंग नहीं हुई। रेवती बाहर निकली। एक नूतन दासी जलपान आदि की ट्रे लिए खड़ी थी।

अपने कमरे में पहुंच कर रेवती ने चाय का प्याला उठा लिया, कहा—"कल तो मैंने तुम्हे नहीं देखा था, सोना।"

"मैं इस महल की पुरानी सेविका हूं, रानी साहिबा! पहले की रानी बहू को सेवा मैं ही करती थी। उनके मरने के बाद मैं फिर महल में नहीं आई। उनकी वैसी मौत को देखकर···" वह चुप हो रही।

"कैसी मौत?"—चकित-सी रानी ने पूछा।

"क्या आपने उस तरफ की तालाबन्द कोठरी को नहीं देखा?···"

देखा है? उसी में वे गले में रस्सी का फन्दा डालकर मरी थीं। उसके बगल वाले बड़े कमरे में वे रहती थीं।·· क्या हुआ था? भगवान जाने। हां, उस सन्ध्या में जब राजा बहादुर काली-कालिका को पूजने गए थे, तब वे भी उनके पीछे-पीछे छिप कर वहां गई थीं, इतना ही मैं जानती हूं।" यह कह कर सोना चाय की ट्रे आदि लेकर चली गई।

और, नानाविध समस्याओं के बीच में पड़ी रेवती अपने आप में गुम हो गई।

सहसा एक सुमधुर सम्बोधन को सुनकर रेवती चौंकी। पति उसके कन्धे पर हाथ रख कर कह रहा था—"रेवा? तुम यहां बैठी क्या सोच रही हो, रानी?"

पति के उस स्पर्श से रेवती के शरीर में एक अपूर्व सिहरन जाग उठी, रोमकूपों में विचित्र-सा स्पन्दन होने लगा और तुरन्त ही उस शिक्षिता नारी ने अपने को संभाल कर धीमी मुस्कान के साथ कहा—"कुछ नहीं महाराज! आपने चाय पी ली?"

"मेरी रानी, मुझे 'आप' नहीं, 'तुम' कहो—मुझे अपनत्व में खींच लो।......चाय ? नहीं, मैं चाय पीता ही नहीं हूं। न रात में भोजन ही करता हूं। चाय के बदले मैं शराब पीता हूं।"

रेवती ने कहा—"कोई बात नहीं। मैं आज सवेरे ही यह समझ गई थी।"

"तुम ? लेकिन कैसे ?"

"तुम्हारे पास घण्टों खड़ी रही थी न।"

राजा ने आंखें गड़ा कर इस सुन्दरी नववधू की ओर देखा और सोचा - "कितनी सुन्दर, कितनी मोहक आकृति है, सामने खड़ी हुई इस नारी की।" और, एक हृदयभेदी दीर्घश्वास राजा के हृदय को चीरता हुआ निकला।

रेवती के निकट उस दीर्घश्वास की कथा गुप्त न रही। वह पति को अपलक नेत्रों से देखने लगी। उस दृष्टि के सामने राजा एक विचित्र परेशानी-सी अनुभव करने लगा। रेवती ने बात को समझा। फिर अधरों पर गुलाल की-सी लालिमा-भरी हँसी बटोर कर, पति का हाथ पकड़ कर, उसने उसे अपने पलंग पर बैठाया। उसके स्पर्श से राजा का बार-बार सिहरना रेवती अनुभव करती रही। रणधीर मुग्ध नेत्रों से रेवती को देखता रहा और किसी एक अज्ञात मुहूर्त में राजा सहसा उस पलंग पर से उठ कर खड़ा हो गया, बोला—"स्नान कर चुकी हो न, रेवती ? तो चलो, राजवंश की कुलदेवी काली मां के मन्दिर में।" रेवती पति के साथ-साथ चल पड़ी।

(3)

प्रासाद के बगलवाले पुष्प-उद्यान में रेवती राजा के साथ पहुंची। पुष्प-उद्यान के मध्य में परिष्कार-विरहित, उजड़ा-सा कालिका का यह बृहत मन्दिर था। देवी के सामने जाकर वह स्तब्ध हो रही। लगने लगा, जैसे काली के नेत्रद्वय मातृ-हृदय के स्नेह से परिपूर्ण होकर उस पर गड़े हुए हैं। श्रद्धा से रेवती ने उनके विशाल पादमूल में मस्तक अवनत कर दिया और पुष्पांजलि देते समय सहसा काली के चरणों की विशेषता ने रानी को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। काले पत्थर

के चरणों में ऊंचे घुण्डीदार पत्थर के ढक्कन लगे हुए थे और पत्थर के ये भारी ढक्कन अल्प-अल्प हिल भी रहे थे। भीत रानी पूजा रत राजा से लिपट गई। रणधीर ने आंखें खोलीं, उस कम्पित नारी को हृदय में समेट लेना चाहा ; किन्तु वैसा न कर सका, पूछा—"क्या हुआ है, रेवा ? डर गई हो ? अरे कांप क्यों रही हो ?"

आर्त स्वर में रेवती ने बताने की कोशिश की—"व···ह···वह···" तुरन्त राजा उठा और रानी को साथ लिए हुए प्रासाद में चलते-चलते बोला—"वह कुछ भी नहीं ! देवी की माया है। तुम अकेली मन्दिर में कभी मत आना। मेरे सिवा यहां कोई भी नहीं आता है।"

रेवती की दिनचर्या थी–नित्य अपनी शून्य शय्या पर से उठना और प्रासाद के पुनःसंस्करण में जुट जाना। रणधीर बहादुर केवल अवाक होकर नूतन रानी का कार्य देखता रहता। अल्प समय में उसने महल को वासोपयोगी बना लिया था— इतना कि कोई टूटा हुआ अंश शेष न रहा।

उस दिन रानी पति के कमरे को साफ करती हुई एकाएक अकड़-सी गई। एक आलमारी में चाबी लटक रही थी और कौतूहलवश उसने उसे खोला था। उसके अन्दर रखी हुई वस्तुओं को देख कर वह सिहर उठी और सहम गई। आलमारी में उसने शराब-भरी बोतलों को देखा, गांजा आदि और उनके चिलमों को देखा और देखा नाना प्रकार की गोली-भरी शीशियों को। उनके नाम पढ़-पढ़ कर वह स्तम्भित रह गई और रणधीर की पदध्वनि सुन कर शीघ्रता से आलमारी बन्द कर अलग खड़ी हो गई।

राजा ने गृह में प्रवेश किया। अपने घर का आमूल परिवर्तन देख कर वह हँसा—"तो रानी साहिबा, देखते-ही-देखते महल का तो तुमने आमूल परिवर्तन कर डाला है। अब क्या मेरा भी परिवर्तन-संशोधन करना है ?"

रानी मुसकराई और बोली–"शायद किसी दिन वह भी हो जाए ?"

प्रथम रानी की मृत्यु की कहानी रेवती यद्यपि दासी के मुख से सुन चुकी थी, तो भी वह अपनी आंखों से काली मन्दिर का रहस्य देखना चाहती थी।

उसी रात्रि को जब रणधीर काली मन्दिर का द्वार रुद्ध कर पूजा कर रहा था, तब रेवती के नेत्रद्वय रुद्ध द्वार की दरार से भीतर देख रहे थे। पूजा शेष कर दो चांदी के दूध भरे कटोरे राजा ने अपने हाथों काली के दोनों पादमूल में रखे। फिर पादमूल के दोनों भारी पत्थर खोल दिए। उन छेदों से फनफनाती हुई दो काली नागिनें निकलीं। उन्होंने दूध पिया। एक को राजा ने तुरन्त बन्द कर दिया, दूसरी के सामने राजा ने अपना हाथ बढ़ाया। नागिन ने मानो चुम्बन की बूंद राजा के हाथ में टपका दी और तब वह छेद में घुस गई। राजा ने रूमाल से रक्त बिन्दु को पोंछा, ढक्कन लगाया और नशे में झूमता हुआ महल में पहुंच कर अपने पलंग पर पड़ कर सो रहा। शान्त धीरता से रेवती ने सब कुछ देखा। वहीं खड़ी रह कर वह न जाने क्या-क्या सोचती रही। उसके बाद दृढ़ निश्चय की छाया उसके मुख पर व्याप्त हुई।

(4)

अर्द्धरात्रि की निस्तब्ध सुषुप्ति। रानी ने राजा के कमरे में प्रवेश किया। रणधीर शय्या पर पड़ा छटपटा रहा था। रेवती खड़ी रह कर पति की दशा देखने लगी। फिर पलंग पर बैठ गई। पति का मस्तक उसने अपनी गोद में उठा लिया—"क्या हो गया आज तुमको, महाराज ?"

"तुमने मेरा भी संस्कार कर डाला न ? परन्तु इतनी जल्दी ? मुझे इतनी जल्दी की आशा नहीं थी, यद्यपि मैं देख रहा था कि आल्मारी की बोतलें खाली हो रही हैं। अब तो आल्मारी ही खाली है।"

रेवती चुप रही।

"क्या देख रही हो, रेवती ?"

"अपने पति को। न सवेरे भोजन, न रात को भोजन। आज से नित्य भोजन करोगे। चलो, उठो।"

एक आज्ञापालक शिशु-सा राजा उठा और चांदी की थाली-कटोरियों में नाना प्रकार के भोजनों को देखकर वह विस्मित हुआ—"यह सब किसने बनाया ?"

रेवती केवल मुसकरा दी।

* * * *

भोर की सुहावनी घड़ियां विश्व प्रांगण में तब पहुंच नहीं पाईं थी। राजा रेवती को देखता हुआ बोला—"आज रात जाग कर किस साधना में लगी हुई हो, रेवा ?···न बोलोगी ? परन्तु सुनो तो, एक अपंग पुरुष नारी को सन्तान की भिक्षा कैसे दे सकता है ? तुम्हारे बाह्य और अन्तरंग, दोनों रूपों ने मुझे मोह लिया है। कितना भयंकर पशु हूं मैं ! क्या अब भी नहीं समझीं ?"

रानी मुसकरा दी।

राजा ने आंखें गड़ा कर रानी की ओर देखा—"क्या चाहती हो, रानी ? सन्तान ? राजवंश की रक्षा ? तो 'टी···ऊ···ब···बे···बी'।"

रेवती बीच में ही गरज उठी—"बस, चुप रहो ! एक दिन उस अभागिनी के, मेरी जीजी के, तुम्हारे इन्हीं शब्दों से प्राण गए थे। मैं सब जानती हूं !"

"तुम······तुम इतना भी जानती हो, रेवा ?"

"क्या चाहती हूं ? इसी राजवंश की सन्तान ! तुम नहीं, एक दिन मैं ही तुम्हें भिक्षा दूंगी। तुम अपंग हो ? तुम्हारी यह मिथ्या कल्पना है। बस, अब सो जाओ।"

"और तुम ? क्या यों ही रात भर जाग कर यहां बैठी रहा करोगी ?"

"हां, दिन और रात।"

"कब तक ?"

"जब तक राजा बहादुर का पूर्ण संस्कार होकर उन्हें पूर्णावस्था प्राप्त न हो जाए।"

राजा आंखें बन्द कर पड़ा सोचता रहा। किन्तु फिर भी उसकी समझ में बात नहीं आई कि उन दोनों नागिनों को किसने मार डाला—रेवती ने, या स्वयं काली माता ने ?

दृष्टि का मूल्य

कमला चौधरी

नगर के विख्यात वैभवशाली सेठ हीरालाल के नवजात पौत्र का नामकरण संस्कार था। प्रातः बड़ी धूमधाम से हवन, ब्रह्मभोज, आदि अनुष्ठान सम्पन्न हुए थे। रात में दावत का आयोजन था, जिसमें मिनिस्टर से लगा कर सभी उच्च श्रेणी के पदाधिकारी और प्रतिष्ठित नागरिक निमन्त्रित थे। इसलिए सेठ जी ने सहभोज की व्यवस्था का भार अपने पुत्र कमल-किशोर को सौंपा था।

संध्या के समय विशाल प्रांगण में अपने मित्रों के साथ बैठे हुए कमल-किशोर मिठाई-मुरब्बों की तश्तरियां लगवा रहे थे। नौकर-चाकर, इष्ट-मित्र, सभी आनन्दविह्वल होकर काम में संलग्न थे। सारे घर में आनन्द ही आनन्द छाया हुआ था। बाहर द्वार पर नौबत बज रही थी। दावत के समय के लिए बैंड तैयार था। घर में सौरी-गृह के सामने गानेवालियां ढोलक-मजीरा बजा कर सोहर गा रही थीं।

गानेवालियों के मध्य बैठी ललिता अपनी मधुर स्वर-लहरी से प्रत्येक का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर रही थी। सोहर के गीत गा चुकने के बाद अब वह कृष्ण के विरह में गोपियों की वेदना के वर्णन के भावमय गीतों से समां बांध रही थी और निर्निमेष दृष्टि से कमलकिशोर की ओर ताकती हुई प्राणपण से अपने संगीत को अत्यधिक चमत्कारी बनाने के निमित्त व्यग्र जान पड़ती थी, मानो किसी सिद्धि की प्राप्ति

के लिए वह यथाशक्ति अपनी कला को सफलता की चरम सीमा पर पहुंचा देना चाहती हो। हाथों की उंगलियां चपलता से ढोलक पर नृत्य कर रही थीं। दृष्टि सब कुछ भूल कर एक दिशा की ओर लगी हुई थी—हृदय की वेदना कण्ठ स्वर से फूटी पड़ रही थी। मुख पर पसीने की बूंदों के साथ ही अकुलाहट के चिन्ह भी अंकित थे। लगातार पूर्ण शक्ति लगा कर गाते रहने के कारण मुंह सुर्ख हो गया था। वह लालिमा उसके सौंदर्य में चार चांद लगा रही थी। ऐसा जान पड़ता था, मानो वह संगीत कला की साधिका आज अपनी साधना का अन्त करके, सफलता का निर्णय करने का संकल्प कर साधनारत थी।

कमल ने एक बार भी उसकी ओर दृष्टिपात नहीं किया, बल्कि नेत्रों को संयत कर वे उस ओर देखने से अपने को जबरन रोक रहे थे। किन्तु बार-बार ललिता के स्वर से उनका हृदय स्पन्दन कर उठता था—शरीर में कम्पन आ जाता था।

कमल के रसिक मित्र उनके भांति-भांति के रसमय वाक्य कह-कह कर विनोद कर रहे थे। ललिता एकटक कमल को ही देखे जा रही है, यह मित्रों की दृष्टि ने भली प्रकार लक्ष्य कर लिया था। और कमल की ओर से ऐसी उपेक्षा, चुप्पी, मित्रों के मन में और भी विनोद उत्पन्न कर रही थी। वे समझ रहे थे-- कमल लजा रहा है। अतः वे ललिता के संगीत की प्रशंसा करते हुए कह रहे थे—"कमाल का गला पाया है। आश्चर्य है कि घरों की गानेवालियां भी इतना अच्छा गा सकती हैं। आवाज कैसी मीठी और सुरीली है। स्वर में कितना लोच है। खूबसूरत भी गजब की है। रंग-रूप से लगता है, जैसे किसी सभ्य घराने की लड़की हो—नायन, बारिन तो लगती नहीं है, दोस्त, यह तुम्हें ही क्यों घूरे जा रही है। हम लोगों की ओर एक बार भी नहीं देखती। पलकें भी तो नहीं झपक रही हैं। आखिर मामला क्या है? तुम इतने शरमा क्यों रहे हो? मालूम होता है, इससे परिचय है।" तभी एक ने कहा—"अच्छा, मजाक छोड़ो। सच बताओ, यह कौन है, तुम कुछ जानते हो?" मन की चंचलता छिपाते हुए कमल ने गर्दन हिला कर 'नहीं' का संकेत किया।

समीप बैठे घर के एक पुराने नौकर ने मित्रों की शंका का समाधान किया—"बाबूजी ! यह नायन नहीं, ब्राह्मणी है। यहां आए अभी पांच-छः महीने हुए होंगे। हमारे सेठ जी का एक क्वार्टर किराए पर लेकर रहती है। इतने ही दिनों में इसके गाने की धूम हो गई है। हमारी मालकिन जी बड़े चाव से इसके भजन सुनती हैं।"

कमलकिशोर फिर भी मौन ही बैठे रहे, जैसे इस वार्ता में उन्हें कोई रस ही न हो। वे अपने काम में दत्तचित्त रहे। फिर तश्तरियां लगवा कर कहने लगे—"अब चलो, हम लोग तैयार होकर बाहर की व्यवस्था देखें।" और मित्रों को साथ लेकर वे ऊपर छत पर चले गए।

इधर ललिता ने भी गाना समाप्त कर दिया और थकावट से मुख का पसीना पोंछते हुए,अनमनी-सी होकर,सेठानीजी से जाने की आज्ञा मांगी।

सेठानी जी ने उसकी सराहना करते हुए कहा—"आज तो तूने कमाल कर दिया, ललिता ! मेरा मन बड़ा प्रसन्न हुआ। तुझ पर तो सरस्वती की कृपा है। थक गई होगी। कुछ देर आराम करके खाना लेने आना। तुझे बढ़िया-सी साड़ी दूंगी। न्योछावर के पैसे आदि तो तू लेती नहीं है।"

जबरन मुसकराने की चेष्टा करते हुए ललिता बोली—"माता जी, बालक होने की मुझे भी खुशी है, पैसे किस बात के लूं।" वाक्य पूरा करते-करते उसका कण्ठ रुकने सा लगा। आंखें छलछला आईं। सेठानी जी को प्रणाम कर वह शीघ्रता से आंगन में आ गई और एक लालसाभरी दृष्टि छत की ओर डाल कर, हृदय में ही संभाल, अपने घर चली गई।

धीरे-धीरे सहभोज का समय निकट आ गया। कमलकिशोर सिल्क का एक बढ़िया सूट पहने, मित्रों के साथ हंसी-मजाक करते हुए, भांति-भांति की सामग्रियों से सजाई हुई मेजों का निरीक्षण कर रहे थे। बड़े सेठ जी बंगले के फाटक पर खड़े अभ्यागतों का स्वागत कर रहे थे। बंगले से बाहर सड़क पर मोटरों की कतारें हो कतारें लगी हुई थीं। बैंड बज रहा था। शान-शौकत देखने वालों का मन भी आनन्द से पुलकित हो रहा था।

तभी अचानक. सेठ जी की कोठी के पीछे, से जहां किराएदारों के घर थे, कोलाहल सुनाई दिया। सहसा सभी का ध्यान उस शोरगुल की ओर चला गया। तुरन्त ही सेठ जी ने कमल से कहा—"देखना, क्या बात है!"

और वे स्वयं आग्रहपूर्वक मेहमानों का आदर-सत्कार कर सबका ध्यान बटाने में तन्मय हो गए।

कुछ देर में एक नौकर ने बड़े अदब से आकर धीरे से सेठ जी को खबर दी—" ललिता गानेवाली ने आग लगा ली—बहुत जल गई है। भैया जी मोटर पर लेकर अस्पताल गए हैं।"

एक स्त्री जल गई इस खबर के फैलने से कहीं आनन्द में फीकापन न आ जाए, इसलिए सेठ जी ने सबको केवल इतनी ही खबर दी कि एक मकान में आग लग गई थी, सो बुझा दी गई। वातावरण पुनः आनन्द से विभोर हो उठा।

सेठ जी को अपने मन में कमलकिशोर की इस नादानी पर क्षोभ हुआ कि वह स्वयं अस्पताल क्यों चला गया, किसी नौकर के द्वारा उसे भेज देना काफी था। अतः उन्होंने अवसर निकाल कर चुपके से कमल को बुला लाने के लिए एक आदमी को मोटर पर दौड़ा दिया और स्वयं बड़े उत्साह से, अनुनय-विनय के साथ, सबको खिलाने-पिलाने में लगे रहे।

सहभोज आनन्दपूर्वक समाप्त हो गया, किन्तु कमलकिशोर अस्पताल से लौट कर नहीं आए। नौकर गए, मुनीम जी गए और कमल के एक परम स्नेही मित्र भी बुलाने गए। सबने आकर सेठ जी से यही कहा—"कमल बाबू डाक्टरों के साथ आपरेशन रूम में हैं।"

निराश होकर मित्र भी खा-पीकर चले गए। परस्पर कुछ कानाफूसी अवश्य हुई। कमल अपने घर के इतने बड़े समारोह की परवाह न कर उस गानेवाली की चिकित्सा में व्यस्त है। ललिता जब गाना गा रही थी, तो एकटक कमल को ही देखे जा रही थी। फिर घर जा कर भीतर से दरवाजा बन्द करके आग लगा ली। यह विचार उसके मन में कुछ रहस्य का आभास करा रहा था—साथ ही, सन्देह का निवारण भी। सम्भव है, कमल का यह आचरण केवल सज्जनतावश

ही हो। उसका यहां और कौन है। कमल के उपस्थित रहने से डाक्टर लोग चिकित्सा में कोई कसर नहीं रखेंगे। सम्भव है, बेचारी के प्राण बच जाएं। कैसी सुन्दर युवती है!

माता-पिता को जहां सहभोज के समय कमल की अनुपस्थिति बहुत अखरी थी, वहां उसकी दया-भावना पर मन में गर्व भी हो रहा था। सेठानी जी बार-बार कह रही थीं – "भगवान करे, उसके प्राण बच जाएं। बड़ी अच्छी लड़की है। कमल की मेहनत सफल हो जाए।" नौकर-चाकर और ललिता के अड़ोसी-पड़ोसी भी कमल की सराहना कर रहे थे। बड़े आदमी के पुत्र में भी इतनी दया-भावना!

कुछ वर्ष पूर्व कमलकिशोर की प्रथम नवविवाहिता पत्नी का देहावसान हो गया था, जो अद्‌भुत सुन्दरी थी और कुछ ही समय में कमल को जिससे अत्यधिक प्रेम हो गया था।

पत्नी की मृत्यु के उपरान्त कमल शोक में इस प्रकार डूब गए कि उनकी दशा उन्माद तक पहुंच गई। खाना-पीना, पढ़ना-लिखना सब छोड़ बैठे। होठों पर मुसकराहट भूल कर नहीं आती थी। हृदय की प्रसन्नता गायब हो गई थी जीवन में कुछ रस नहीं रह गया था। रात-दिन उदासी में ही व्यतीत होता—तकिए में मुंह छिपा कर सिसकियां भरते। कभी चुपके-चुपके आंसू टपकाते और कभी शून्य में आंखें गड़ाए निर्जन स्वप्न में गुमसुम बैठे रहते। इष्ट-मित्र, परिवार वालों द्वारा मन बहलाने का उपक्रम शोक के वेग को और भी अधिक बढ़ा देता था।

वे दैनिक दिनचर्या तक की बात जैसे भूल गये थे। प्रातः मां बहुत आग्रह कर स्नानघर में भेजतीं, तो भीतर से दरवाजा बन्द करके स्नान की चौकी पर बैठे रहते। अनिच्छा से किसी प्रकार हाथ में जल लेकर मुख पर डालते, तो स्वतः ही हृदय की वेदना आंखों में उमड़ पड़ती और घुटनों पर सिर रख कर बालकों की भांति फूट-फूट कर रो पड़ते।

बाहर बहन-भाई द्वार खटखटाकर अनुनय-विनय करके कहते—"जल्दी आओ, भाई! पिता मेज पर बैठे चाय के लिए तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं।" तब कहीं वे शरीर पर पानी डाल कर, उल्टे

सीधे कपड़े पहन कर, बाहर आते और बेमन से चाय का प्याला गले से उतार लेते। प्रत्येक काम इसी प्रकार कठिनाई से कर पाते। कोई संसार की गतिविधि या जन्म-मरण की विवशता प्रकट करके यदि उन्हें समझाने की चेष्टा करता, तो उनका दुख और भी बढ़ जाता और मन ही मन वे उससे रुष्ट हो जाते। ऐसे प्रयत्नों से उन्हें अपने प्रेम का उपहास होता प्रतीत होता था।

कमल की दशा से माता-पिता अत्यन्त चिन्तित थे। कहीं उन्हें कुछ हो न जाए, इसलिए किसी भी युक्ति से उनका ध्यान बटाना ही चाहिए, इसी विचार से उन्होंने एक उच्च घराने की रूपवती विदुषी कन्या से विवाह की बातचीत प्रारम्भ की। माता ने जिस दिन कन्या का चित्र दिखलाया और कमल को दुनियादारी समझा कर सारे परिवार को उनकी दशा से जो कष्ट मिल रहा था, उसका मार्मिक वर्णन करके पुनर्विवाह कर लेने का प्रस्ताव किया, उसी रात चुपचाप कुछ कपड़े, आदि लेकर वे घर से चल दिए।

कहां जाना है, मन को यह निश्चय करने का बोध ही नहीं हुआ। दूसरे विवाह की बात सुन कर परिवार से दूर भाग कर, किसी प्रकार वे अपने को बचा लें और सब लोग समझ लें कि उनका प्रेम कितना अटल है, इसी धारणा के अनुसार विह्वल-से वे स्टेशन पर पहुंच कर टिकटघर की खिड़की पर खड़े हो गए। तभी कानों में आवाज पड़ी—"बाबू, मथुरा का टिकट दे दो।"

यन्त्रचालित की भांति कमल ने भी अनुकरण किया और उन वृद्ध सज्जन के पीछे-पीछे जाकर गाड़ी में बैठ गए।

वृद्ध मथुरा निवासी एक पण्डा थे—बड़े हँसमुख और दुनिया देखे हुए अनुभवी व्यक्ति थे। बात की-बात में अपना यजमान पक्का करके मित्रता कर लेने में उन्हें देर नहीं लगती थी किन्तु धार्मिक, परोपकारी और सहृदय भी थे। कमलकिशोर की मुखाकृति देख कर वे समझ गए कि उनका सहयात्री अत्यधिक चिन्तित और व्यथित है।

पण्डा जी ने अपनी ही सीट पर स्थान करके उन्हें समीप बिठा लिया और बड़े स्नेह से बातों की झड़ी लगा कर धीरे-धीरे सब मालूम कर लिया।

कुछ देर कमलकिशोर अनिच्छा से प्रश्नों का उत्तर देते रहे, फिर पण्डा जी से कुछ आत्मीयता सी महसूस होने लगी। बातों में रस आने लगा। संतप्त हृदय को सान्त्वना मिली और उन्होंने अपना हृदय उनके सम्मुख खोल दिया।

कृष्ण की बालक्रीड़ा का रोचक वर्णन करके पण्डा जी ने कमल को कुछ दिन वृन्दावन रहने का परामर्श दिया और अत्यन्त स्नेहपूर्ण ढंग से जीवन-मरण की दार्शनिकता समझा कर कहा—"बाबू साहब! मनुष्य को बड़े से बड़े दुख संसार में सहने पड़ते हैं, किन्तु वह सांसारिक जीव है—संसार को छोड़ कर कहां जाए। जीवन-यापन के लिए दुनियादारी में ही भलाई है। कोई जन्म-भर रो भी तो नहीं सकता। सुख के उपरान्त दुख, और दुख के उपरान्त सुख—यही मानव-जीवन का संघर्ष है। भगवान की कृपा से शीघ्र ही आपके चित्त को शांति प्राप्त होगी। मनुष्य को हिम्मत नहीं हारनी चाहिए। सहन शक्ति से काम करना बड़प्पन है। अब आप आए हैं तो मथुरा, वृन्दावन, गोकुल नन्दगांव, बरसाना आदि स्थान देख कर जाइएगा। दुख भूलने का सब से उत्तम उपाय प्राकृतिक सौन्दर्य का अवलोकन और देश भ्रमण ही है।" बातों ही बातों में रात बीत गई। कितने दिनों के बाद कमलकिशोर को वह उषाकाल रमणीक लगा—हृदय में आनन्द का संचार हुआ।

वृन्दावन पहुंच कर पण्डा जी ने कहा "मैं आपसे कुछ दिन मथुरा में ही ठहरने की प्रार्थना करता, किन्तु मैं बद्रीनाथ की यात्रा को जा रहा हूं। अनेक जरूरी काम निबटाने हैं। यहां मेरे एक मित्र का बड़ा-सा घर है। स्थान रमणीक है। मित्र का स्वर्गवास हो चुका है। उन की एक विधवा लड़की है—वह ऊपर के एक भाग में रहती है। शेष घर यात्रियों के ठहरने के लिए किराये पर उठा देती है। वहीं आपके रहने की व्यवस्था कर दूंगा। यात्रा से पहले उससे मिल लूंगा। मित्र उसका भार मुझ पर ही छोड़ गए हैं। इसलिए दूसरे-तीसरे महीने उस को खबर ले आता हूं।"

इस प्रकार परस्पर वार्तालाप करते हुए, पण्डा जी ने घर के आंगन में पहुंच कर आवाज दी—"बेटी ललिता! कहां हो?" "काका जी,

जै गोकुलेश !" कहती हुई, द्रुत गति से सीढ़ियां पार कर, हंसी से चहकती हुई ललिता हाथ जोड़े पण्डा जी के सम्मुख खड़ी हो गई।

कमल ने दृष्टि उठा कर देखा। ललिता का रूप-लावण्य विजली की भांति आंखों में कौंध गया। सहसा मन में प्रश्न उठा—यह विधवा है, या प्रफुल्लता की साक्षात प्रतिमा ? कमल का हृदय प्रसन्नता से भर गया।

एकान्त में पण्डा जी ने ललिता को कमल का केवल इतना परिचय दिया—"बड़े घर के लड़के हैं। आजकल शोकग्रस्त हैं। मन बहलाने के लिए कुछ दिन यहां रहेंगे। इनका भोजन तुम स्वयं ही बना दिया करना। घर से बर्तन-भांडे तो लाए नहीं हैं—जो खर्च पड़े, ले लेना। लड़का भला जान पड़ता है—कुछ कष्ट न होने पाए। मैं तो, बेटी, इस बार लम्बी यात्रा को जा रहा हूं। चारों धाम करके लौटूंगा अच्छी तरह रहना।

ललिता ने खिलखिलाते हुए सरलता से स्वीकृति दे दी—'जैसी आज्ञा काका जी ! एक आदमी का भोजन बनाना कौन सी कठिन बात है। मैं तो अपने सभी यात्रियों की यथाशक्ति सेवा करने को तत्पर रहती हूं। मुझे और काम ही क्या है !"

पण्डा जी दोपहर में भोजन आदि करके चले गए। ललिता बाल-विधवा थी। न अनुराग से उसका परिचय हुआ, न मातृत्व से। परिस्थितिवश, या अपनी स्वाभाविक मनोवृत्ति के कारण, पूर्ण यौवन प्राप्त करके भी वह यौवन के अस्तित्व से बेखबर थी। प्रकृति ने उसके हृदय में एक ऐसी अलौकिक मस्ती दी थी कि वह अपने में ही मगन रह कर हर समय आनन्दविभोर रहती थी। संगीत से उसे बहुत प्रेम था। आठ पहर, कोकिल की भांति, वह अपने सुरीले कंठ से मस्त होकर कूकती रहती। सरिता की चंचल लहरों की भांति, उसका हृदय भी संगीत-लहरियों के साथ नर्तन करता रहता। स्वतः ही उसे कोई ऐसी दिव्य प्रतिभा प्राप्त थी, जिसने जीवन के अभावों के प्रति उसे इतना लापरवाह बना दिया था, मानो जीवन में उसे कुछ अभाव ही न हो। कितने ही यात्री उसके घर आ कर ठहरते। वह सबकी सुध लेती, अपनी

हंसी और गीतों से सबके मन को रिझाती और हंसते-हंसते ही सबको बिदा कर देती; मानो वह मानवी हृदय किसी ऐसी अनुपम वस्तु से बना था, जो माया-मोह, राग-द्वेष, दुख-शोक से रहित होकर अपने ही भीतर की प्रसन्नता में तल्लीन रहता था। किन्तु कमलकिशोर ऐसे यात्री आए कि जिन्होंने ललिता के हृदय की गतिविधि में परिवर्तन कर उसे प्रेम के रस में उन्मत्त कर दिया और उसने हंसते-हंसते अपने को कमल को समर्पित कर दिया।

अनुराग का ऐसा धारा-प्रवाह उद्वेलित हुआ कि ललिता अपना वैधव्य, अपनी वह अज्ञात मस्ती, भूल गई और कमल मृत पत्नी का शोक, घर-द्वार, माता-पिता, सबको भूल गए। ललिता के रूप-गुण और संगीत के आकर्षण ने उन्हें आसक्त करके प्रणय में बांध लिया।

दोनों एक प्रकार के स्वर्गीय सुख में विभोर थे, जो उन्हें जीवन में उपलब्ध नहीं हुआ था।

कुछ दिन बड़े आनन्द में व्यतीत हुए। अचानक एक दिन कमल ने समाचार पत्र में पढ़ा कि सेठ हीरालाल बहुत बीमार हैं और अपने पुत्र कमलकिशोर के लिए अत्यन्त विकल हैं—कमल का अभी तक पता नहीं लग पाया है।

इस समाचार ने कमल को जैसे निद्रा से जगा कर मर्माहत कर दिया। वे शीघ्र लौट आने का वायदा करके चले आए और ललिता का संसार उजड़ गया।

घर पर कमल ने सारे परिवार को अपने वियोग में आहत पाया। मां उनकी चिन्ता में सूख कर कांटा हो गई थी। पिता रोग-शय्या पर उनके लिए छटपटा रहे थे। यह दशा देख कर कमल को अपने किए पर पश्चाताप होने लगा और एक अपराधी की भांति उन्होंने अपने को माता की प्रसन्नता के हेतु समर्पित कर दिया।

पिता के आराम होते ही माता ने कमल के विवाह की तैयारी की। कमल इनकार नहीं कर सके। हृदय में जैसे साहस का नाम ही नहीं रह गया था।

वे चाहते थे कि मां से सब-कुछ कह दें, किन्तु कह नहीं पाए। वे

पत्नी के वियोग में वियोगी बन कर क्रुद्ध होकर चले गए थे कि मां दूसरे विवाह की बात करके मेरे प्रेम का अनादर करती है। उन्होंने कितनी ही बार रोकर मां से कहा था—"मां, तुम मुझे क्या समझती हो ? मैं ढोंगी या पाखण्डी नहीं हूं। मेरा प्रेम सत्य है। मैं उसे भूल नहीं सकता। सम्पूर्ण जीवन उसकी याद में व्यतीत कर दूंगा। मैं वासना का पुतला नहीं हूं। मेरे प्रेम का उपहास न करो।" फिर, अब वे यह कैसे कहें कि घर से बाहर पैर रखते ही उनका वह प्रेम काफूर की भांति न जाने किधर गायब हो गया था और एक नारी से सम्पर्क स्थापित करके उन्होंने पुन: प्रेम ही नहीं किया, बल्कि उसके साथ इतने दिन रंगरलियों में व्यतीत किए। भले ही तुम लोग उनके लिए रोते-कलपते रहे, पर वे तो ऐसे लोक में थे, जहां तुम्हारी सुध भी नहीं आई।

यदि मां से यह कहें कि मुझे ललिता से प्रेम हो गया है, उसी से विवाह कर दो, तब भी कोई विश्वास नहीं करेगा। सभी सोचेंगे, जिस प्रकार प्रेम के उन्माद का पहला नशा क्षण मात्र में उतर गया, यह भी उतर जाएगा। फिर अन्तर्जातीय विधवा विवाह की आज्ञा माता-पिता कैसे देंगे ? समाज में कितनी बदनामी होगी ! कहां ऊंचे घराने के लड़के कमल, कहां वह अनाथ ललिता ! वह कितनी ही सौंदर्यवती हो, पवित्र हो, किन्तु उस जैसी परिस्थिति में रहनेवाली स्वच्छन्द विधवा को पवित्र कौन मानेगा ? खानदान पर कलंक का टीका लग जाएगा।

और, यही क्या मालूम कि सचमुच ललिता एक सरल, पवित्र नारी है—उसने प्रथम बार कमल से ही प्रणय व्यापार किया है। सम्भव है, उसके जीवन में और भी कमल जैसे यात्री आ चुके हों। वह वेदना के आंसू और विकलता बनावट ही हो—धनाढ्य घर के प्रतिभाशाली रूपवान युवक को फंसाने के लिए युक्ति हो। कमल से उसने विवाह का वायदा करके तो अपने को समर्पित किया नहीं था।

ऐसी शंकाएं कमल के हृदय में स्थान बनाती गईं और वे कुछ निश्चय नहीं कर पाए। मुंह लटकाए वे यन्त्रचालित की भांति, विवाह कर आए और धीरे-धीरे ललिता को भूलने लगे। एक पढ़ी-लिखी, आधुनिक संस्कृति की सुन्दरी पत्नी ने उनके मन को वश में कर लिया।

ललिता ने बहुत दिनों तक आशा भरे हृदय से कमल की प्रतीक्षा की और मन की व्यथा मन में ही समेटे, किसी प्रकार दिन व्यतीत करती रही। किन्तु जब कमल ने उसके पत्रों का उत्तर देना भी बन्द कर दिया, तो वह रो-धो कर ही अपने को शान्त नहीं कर सकी, वेदना और निराशा में उन्मादिनी-सी बन कर घर की व्यवस्था का भार पड़ोसिन वृद्धा पर छोड़कर तीर्थयात्रा के बहाने चल दी और कमल का ही एक मकान किराए पर लेकर रहने लगी। धीरे-धीरे उसे सब-कुछ मालूम हो गया।

उसका विचार कमल को बदनाम करने या बदला लेने का नहीं था। वह एक बार एकान्त में कमल से भेंट कर इस निष्ठुरता का कारण जानना चाहती थी। क्या सत्य ही ललिता के प्रेम को वे भूल गए, या विवश हैं ? सब देख-सुन कर भी जैसे उसके हृदय को विश्वास नहीं होता था कि कमल उसे धोखा दे सकते हैं। एक बार वह किसी प्रकार कमल से साक्षात्कार करने को विकल थी। इसी योजनावश वह गाने-बजाने के बहाने कमल के घर भी आने लगी थी और कमल के पुत्र उत्पन्न होने की खुशी में नित्य-प्रति ही गाना गाने आती थी। आते-जाते कितनी बार कमल मिल भी जाते, लेकिन कभी उन्होंने ललिता की ओर आंख उठा कर देखा भी नहीं, जैसे वे उसकी छाया से भी बचना चाहते हों। अत: ललिता की वेदना बढ़ती ही गई और आज वह चरम सीमा को पहुंच गई।

गाना समाप्त कर वह निराशा में डूबी घर पहुंची और भीतर से कोठरी बन्द करके बहुत देर तक वेदना से छटपटाती फफकफफक कर रोती रही; पर रोने से भी जब हृदय की वेदना शान्त नहीं हुई—अपमान और निराशा की चोट से वह छटपटा उठी—तो उन्मादिनी की भांति उसने अपने ऊपर लालटेन का तेल उलट कर आग लगा ली। न वह चिल्लाई, न चीखी। आस-पास वाले दरवाजा तोड़ कर जब भीतर घुसे, तो वह पृथ्वी में मुंह गड़ाए औंधी पड़ी जल रही थी। कम्बल डाल कर आग बुझाई गई। उसी समय कमल वहां पहुंच गए। ललिता आग लगा कर जल गई, यह शब्द सुन कर क्षण भर को वे स्तब्ध

खड़े रह गए। उन्हें लगा जैसे दिल की धड़कन बन्द हुई जाती है। फिर, सहसा बड़े वेग से भाग कर उन्होंने ललिता के जले शरीर को उठा लिया श्रौर मोटर में उसे लेकर अस्पताल चले गए।

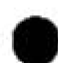
डाक्टरों ने कमल के इशारे पर जो कुछ हो सकता था किया, किन्तु उसका शरीर बुरी तरह जल गया था। उसने दोनों हाथों से अपना मुंह पृथ्वी में छिपा रखा था, इसलिए चेहरे का सौंदर्य नष्ट नहीं हुआ था। किसी नर्स को ललिता के समीप नियुक्त न करके कमल स्वयं ही पलंग के समीप बैठा, अपलक दृष्टि से उसका मुख निहारने लगे। रात्रि के सन्नाटे में दो बजे के लगभग ललिता ने आंखें खोलीं। दोनों की दृष्टि एक हो गई। किन्तु कमल ने आंसू टपका कर आंखें नीची कर लीं। ललिता के होंठ हिले। कमल ने चम्मच से मुख में पानी डाला। पीकर क्षीण स्वर में ललिता ने कहा—"मुझे क्या मालूम था तुम्हारी दृष्टि का मूल्य! तुम कितने निष्ठुर हो!" कमल फूट कर रो पड़े। ललिता ने हाथ उठाने की चेष्टा की, लेकिन कराह उठी। अपने शरीर की पट्टियों पर सरसरी दृष्टि डाल कर बिना विचलित हुए उसने फिर कहा—"धीरज धरो, मेरी ओर देखो।"

कमल ने विह्वल होकर उसका सिर धीरे से अपनी गोद में रख लिया।

ललिता कुछ देर तक आंखें गड़ाए कमल का मुंह देखती रही। कमल ने कठिनाई से विकल होकर कहा—"मुझे क्षमा कर दो, ललिता!" रुलाई के आवेग से उनका कण्ठ रुक गया। अधिक कुछ नहीं कह सके। रोते ही रहे। ललिता की भी आंखें भर आईं। हृदयावेग के कारण रुकते हुए कण्ठ से उसने कहा—"मेरा अन्त बड़ा सुन्दर है। भगवान ने बड़ी कृपा की, जो तुम्हें देखने को आंखें बचा दीं।" किन्तु कुछ ही क्षण बाद उसकी आंखें सदैव के लिए बन्द हो गईं।

कमल निश्चेष्ट से उसके सिर को गोद में लिए बैठे रहे, मानो जागने की प्रतीक्षा कर रहे हों। अचानक जोर से दरवाजा खुला। अस्त-व्यस्त से पण्डा जी आए और ललिता का मुख देख कर चीख उठे—"बेटी, मुझे देर हो गई, नहीं तो कल मैं तुझे आत्म हत्या न करने देता।"

फिर अपने को संयत करके बोले—"कमल बाबू, घर जाओ। मेरी बेटी के शव पर उंगली न उठवाना।" वे कमल के घर ललिता की तलाश में गए थे और दुर्घटना का समाचार सुन कर सब-कुछ समझ गए थे। व्यथा और पश्चात्ताप से कमल का हृदय फटा जा रहा था।



खोटी चवन्नी

कुलभूषण

"पैसे देना जी।"

टैक्सी अपनी मंजिल पर पहुंच रही थी और क्लीनर मोहन हाथ बढ़ा कर पिछली सीट पर बैठे तीनों सज्जनों से कह रहा था—"पैसे देना जी।"

अगले क्षण तीन चवन्नियां मोहन की हथेली पर आईं और उसने हाथ खींच लिया। तभी टैक्सी का पहिया सड़क के किसी गढ़े में धंस कर उछला और मोहन ने दरवाजे को कस कर पकड़ लिया। फिर उसने चवन्नियां उलट-पलट कर देखीं, तो एक चवन्नी खोटी नजर आई।

बाकी दो चवन्नियां उसने अपनी नीली धारीदार गन्दी कमीज की जेब में डालीं, फिर कहा—"यह चवन्नी किसकी है ? बदल देना।"

मगर उसके बढ़े हुए हाथ की तरफ किसी ने अपना हाथ नहीं बढ़ाया। टैक्सी की पिछली सीट पर बैठे तीनों सज्जनों ने एक क्षण एक-दूसरे के मुखों को निहारा। फिर, जैसे कुछ हुआ ही नहीं, तीनों खिड़की के बाहर का दृश्य देखने में तन्मय हो गए।

क्लीनर मोहन ने एक बार फिर अपना वाक्य दोहराया। सरकारी दफ्तर में काम करने वाले अधिकतर बाबू ही इस टैक्सी में बैठते हैं। सुबह-शाम यह टैक्सी, जो असल में स्टेशन वैगन है, पटेल नगर और केन्द्रीय सचिवालय के बीच चक्कर लगाती है। इसमें कानून से केवल

सात आदमियों के बैठने की जगह है, मगर बैठते हैं कम-से-कम ग्यारह आदमी। तभी तो बस के रेट पर यह टैक्सी दफ्तर के कर्मचारियों की सेवा करने में समर्थ होती है।

मगर अब भी मोहन की बात का किसी ने जवाब नहीं दिया। एक क्षण तक मोहन ने घूर कर तीनों 'सवारियों' की तरफ देखा। दो पतले-इकहरे बदन के अधेड़ उम्र के आदमी और उनके बीच में एक मोटे सज्जन, जिनके चेहरे पर पसीने की बूंदें उभर आई थीं। जरूर यह खोटी चवन्नी इन्हीं सज्जन की है। मगर बने हुए ऐसे हैं, जैसे खोटी चवन्नी के कभी दर्शन भी न किए हों। अजीब बात है। कोई भी खोटी चवन्नी को अपना नहीं बताता।

और कम्बख्त हैं भी तो तीनों नई सवारियां। रोज की सवारियां ऐसा नहीं करतीं—कर भी नहीं सकतीं, क्योंकि रोज का धोखा सम्भव नहीं है।

एकाएक धचके के साथ टैक्सी पटेल नगर के दायरे में आकर रुक गई, मगर क्लीनर मोहन ने मुसाफिरों के लिये रास्ता नहीं छोड़ा। जरा आगे बढ़ कर उसने कुछ रूखेपन से कहा—"यह चवन्नी क्या किसी की भी नहीं है?"

तीनों मुसाफिरों ने मोहन की तरफ देखा।

मोटे सज्जन ने सिर हिला कर कहा—"मेरी तो नहीं है।"

पतला, श्यामवर्ण का मुसाफिर उठ कर दरवाजे की तरफ बढ़ा। उसके कपड़े गन्दे थे, बाल खिचड़ी हो रहे थे और गालों पर जगह-जगह झांइयां पड़ रही थीं। सफेद कमीज की बांहें चढ़ी हुई थीं और मोटे होंठों पर पपड़ी जम रही थी। वह बोला—"रास्ता छोड़ो, चवन्नी हमारी नहीं है।"

क्लीनर ने एक नजर ड्राइवर त्रिलोक सिंह की तरफ देखा, जैसे पूछ रहा हो—क्या करूं? त्रिलोक सिंह ने कुछ इशारा नहीं किया; सहज भाव से कहा—"जाने दो बाबू साहब को। क्या ये चवन्नी के लिए झूठ बोलेंगे!"

एक-एक करके सभी मुसाफिर (जो क्लीनर के लिए आदमी नहीं, केवल सवारियां थीं, जिन्हें गिन कर वह पैसों का हिसाब करता था)

टैक्सी से उतर गए। क्लीनर मोहन सड़क की धूल में खड़ा पैसे बटोरता रहा।

सब जा चुके तो आखिरी सीट पर बैठे आखिरी सज्जन बाहर आए। पतले, मगर गोरे -इन सज्जन की आंखों पर सुनहरी फ्रेम का चश्मा था और हाथ में कपड़े का झोला। सफेद कमीज और सफेद पतलून होठों पर एक अजीब सी हैरान करने वाली मुसकराहट।

टैक्सी से बाहर आकर ये सज्जन कुछ देर रुके; फिर मोहन की ओर मुड़ कर बोले–"भाई, विश्वास रखो, मेरी चवन्नी खोटी नहीं थी।"

क्लीनर मोहन का गोल लाल चेहरा और भी लाल हो गया। वह कुछ कहने जा रहा था, मगर बहुत कोशिश करके उसने अपने पर काबू पाया। त्रिलोक सिंह ड्राइवर तब तक टैक्सी को दूसरे गियर में कर चुका था। उचक कर मोहन ने दरवाजा खोला और अन्दर जा बैठा। टैक्सी केन्द्रीय सचिवालय की ओर चल दी।

(2)

मदन गोपाल ने चाय का एक घूंट पीकर प्याला मेज पर रख दिया और अपने मोटे पेट पर हाथ फेर कर कहा—"आज एक अजीब बात हुई।"

"क्या ?"—उसकी पत्नी राधा ने मुसकरा कर पूछा। आजकल वह एक अद्भुत संसार में रहती थी। एक तो विवाह हुए कुछ अधिक दिन न हुए थे—इस पर एक नन्हे मेहमान के आने की तैयारियां। रह-रह कर राधा चौंक-चौंक उठती। मदन गोपाल को देखकर उसे बरबस न जाने क्या होता, कि बस! अब भी प्रश्न पूछते हुए वह एक अजीब सी इच्छा का अनुभव कर रही थी और बड़ी कठिनाई से उसे दबा रही थी।

मदन गोपाल ने मुसकरा दिया–"क्यों,कहां खो रही है मेरी रानी ?"

"हुंह, यहीं तो हूं आपके सामने।······आप क्या बात बता रहे थे भला ?"

"···हां। आज साइकिल नहीं थी न, सो टैक्सी में दफ्तर से लौटा हूं। मैं पिछली सीट पर बैठा था। दो और आदमी भी मेरे साथ ही

बैठे थे। तीनों ने एक-एक चवन्नी निकाल कर दी। टैक्सी वाले ने लेकर देखा, तो तीन में से एक चवन्नी खोटी। उसने पूछा—'यह खोटी चवन्नी किसकी है ? बदल दो।' मगर तीनों में से किसी ने हामी नहीं भरी।"

"अच्छा !" राधा के गोरे मुख पर चिन्ता के बादल छा गए। फिर एकाएक बोली "तुम्हारी तो नहीं थी ?"

"मेरा खयाल है, मेरी नहीं थी। और, अगर होती भी, तो मैं क्या कर लेता ? चवन्नी के सिवा मेरे पास और कुछ था ही नहीं।"

"क्यों, सुबह तो एक रुपया ले गए थे········"

"हां, चार आने जाने में लगे। दफ्तर में एक दोस्त आ गया। उसे चाय पिलानी पड़ी। आठ आने उसमें चले गए।"

"हूं ! यह तो अच्छा नहीं हुआ।" राधा सोच रही थी—अगर खोटी चवन्नी इनकी थी, तब तो बहुत बुरी बात हुई।

"अरे छोड़ो भी !" मदन गोपाल ने हवा में बात को परे धकेलते हुए कहा—"कुछ मीठी बातें करो।"

मगर राधा का चेहरा चिन्तित ही रहा। खोटी चवन्नी देकर इन्होंने पाप किया है और पाप का फल सदा············। आशंका से उसका दिल कांप उठा।

उसी समय उठ कर उसने ट्रंक खोला। उसमें से एक पोटली निकाली। पोटली में से पैसे निकाल कर वह मदन गोपाल के पास आई; बोली—"ये लो चार आने। अभी दे आओ जाकर। मुझे डर लगता है, कहीं कुछ हो न जाए।"

मदन गोपाल को बरबस हंसी आ गई। राधा की इसी बात पर वह लट्टू है। देखो तो, कितनी चिन्तित हो रही है—और कितनी प्यारी लगती है अपनी इस चिन्ता में। सिर पीछे फेंक कर वह खूब जोर से हंसा और हंसता चला गया।

"अरे रे," आखिर हंसी रोक कर वह बोला—"मगर तुम्हें यह किसने कह दिया कि खोटी चवन्नी मेरी ही थी ?"

"हो सकता है, तुम्हारी ही हो। जाओ, जाकर दे आओ।"

"अच्छा बाबा, दे आऊंगा।" अब मदन गोपाल को क्रोध आ रहा था—भला यह भी कोई बात है!

"दे क्यों नहीं आते अभी ?"

"इस समय टैक्सी वाले को मैं कहां ढूढूंगा ? सुबह आठ बजे उसकी टैक्सी दायरे के पास आकर खड़ी होती है, तभी दे आऊंगा।"

(3)

नवीन ने अपने सुनहरी फ्रेम को ठीक करते हुए—"सचाई वह है, जो तुम्हारा दिल जानता है।'

"नहीं," राकेश ने कहा—"सचाई वह है, जो दुनिया जानती है। देखो न, तुमने चोरी नहीं की, मगर चोरी का माल तुम्हारे घर बरामद हुआ लोग तुम्हें चोर समझेंगे या किसी और को ?"

"समझा करें," नवीन ने झल्ला कर कहा—"मगर मैं तो जानता हूं कि चोरी मैंने नहीं की।"

"तुम लेखक हो न। तभी ऐसी बहकी-बहकी बातें करते हो।"—मनमोहन ने कहा।

तीनों मित्र सिगरेट के धुएं से भरे कमरे में बैठे बहस कर रहे थे और रह-रह कर नवीन को टैक्सी के क्लीनर का चेहरा दिखाई दे रहा था। किस उद्दंडता से उसने नवीन की तरफ देखा था। शायद वह समझता था, खोटी चवन्नी उसी की है। मगर नवीन जानता था, उसकी चवन्नी बिलकुल ठीक थी। देने से पहले उसने चवन्नी को उलट-पलट कर अच्छी तरह देखा जो था।

"दोस्तोवस्की के उपन्यास 'अपराध और दंड' के नायक दास्कोल-निफाफ को मालूम था कि जुर्म उसने किया है।"—नवीन ने कहना आरम्भ किया—"किसी को उसके अपराध का पता न था, फिर भी उसकी आत्मा ने स्वीकार नहीं किया कि वह निरपराध है। इसलिए वह जुर्म के स्थान पर वापस गया, यह जानते हुए भी कि वह पकड़ा जाएगा। और, दंड पाकर उसकी अपराधी आत्मा को जैसे एक असह्य बोझ से मुक्ति मिल गई।"

"किस सदी की बातें कर रहे हो तुम ?"—मनमोहन ने कहा—"आज के जमाने में सफल चोर आदर पाते हैं.........और उनकी आत्मा की आवाज शहर के कोलाहल में सुनाई ही नहीं देती।"

"अच्छा, तो आज की बात सुनो।" नवीन ने कहा—"और फिर फैसला करो कि अपराधी मैं था या कोई और।"

"सुनाओ।"—राकेश ने कश खींच कर धुआं छोड़ दिया।

नवीन ने चवन्नी वाली बात विस्तार सहित कह सुनाई, फिर कहा—"क्लीनर ने जिस नजर से मेरी तरफ देखा, उसका मतलब साफ था। मैं खोटी चवन्नी को अपनी बता कर दूसरी चवन्नी दे सकता था। मगर मैं जानता था मैं निर्दोष हूं। फिर मैं ऐसा क्यों करता!"

"मगर टैक्सी में बैठे दूसरे लोग भी तुम्हें निर्दोष समझते थे ?"—राकेश ने पूछा।

"यह मैं नहीं कह सकता। शायद वे भी क्लीनर की तरह मुझे ही दोषी समझते हों।"

"और तुम्हें इसकी कोई चिन्ता नहीं है। तुम्हारी आत्मा जो साफ है।"

"जी हां, आत्मा साफ है।"—मनमोहन ने छींटा कसा—"तभी जनाब को रह-रह कर खयाल आ रहा है कि दोषी कौन था।"

नवीन ने चश्मा उतार कर उंगलियों से आंखों की कोरों को दबाया; फिर कहा—"सच बताऊं ? मैंने यह बहस केवल इसलिए शुरू की, ताकि अपने-आपको विश्वास दिला सकूं कि मैं सही रास्ते पर हूं। पर मालूम होता है, मुझे इसका प्रायश्चित करना पड़ेगा; वरना जब भी मेरी भेंट उस क्लीनर से होगी, मैं उससे नजरें न मिला सकूंगा।"

"तुम निर्दोष हो, फिर यह झेंप क्यों ?"—राकेश ने कुरेदा।

"इसलिए कि जो दोषी था, उसे झेंप नहीं आई।"—नवीन ने चश्मा लगाते हुए कहा—"खैर, छोड़ो इन बातों को। आओ, ताश की एक बाजी हो जाए।"

(4)

होंठों की पपड़ी पर जबान फेरते हुए चन्द्रकान्त ने अपने पांच वर्ष के बेटे से कहा—"जा मुन्ना, मां से बोल खाना लाए।"

"अच्छा बाबा।" कहकर बच्चा घर के अन्दर चला गया।

चन्द्रकान्त बरामदे में चारपाई पर बैठा था। उसके पांव बराबर हिल रहे थे। कुहनियों पर उंगलियां कसे वह एकाएक मुसकरा उठा। उसे टैक्सी के क्लीनर का चेहरा याद आ गया। आसमान की ओर देखकर उसने जबान से जोर का एक शब्द किया और फिर चारपाई पर लेट गया। दिन का प्रकाश लगभग ओझल हो चुका था। आसमान पर तारों की चमक बड़ी सुहावनी लग रही थी।

ओह ! एक और दिन चला गया। वह मोटर वाला काम अगर बन जाए, तो पौ-बारह हैं, वरना आज का सारा दिन बेकार हो जाएगा। चांदनी चौक में एक भी तो सौदा नहीं मिला। ग्राहक अगर दस साइकिलें उठा लेता, तो भी बात थी। या मसूद के यहां सौ गुर्म पेचों की खपत हो जाती। मगर न जाने क्यों, दूसरे सब दलाल पहले पहुंच जाते हैं। चन्द्रकान्त तब पहुंचता है, जब सारा सौदा निबट चुका होता है।

वह उठ कर बैठ गया। बच्चे ने थाली लाकर चारपाई पर रख दी। "पानी ला – जा।" कह कर चन्द्रकान्त ने बच्चे को फिर भगा दिया।

चावलों में दाल डाल कर उसने खाना आरम्भ किया। मेहता साहब गाड़ी जरूर ले लेगा। बड़ा आदमी लगता है।

और हां, एक काम तो आज अच्छा हो गया। खोटी चवन्नी इस खूबी से चलाई कि साला क्या याद करेगा। पता भी नहीं चला कि किसने दी है। वैसे अगर बस में आता, तो साढ़े-चार आने लगते—और चवन्नी चलती या नहीं, इसका भी कोई पक्का नहीं था। यहां दो पैसों की बचत हुई और खोटी चवन्नी भी चल गई।

खाना खा कर उसने अपनी पत्नी से, जो गले में दुपट्टा डाले चूल्हा चौका संभाल रही थी, कहा—"मैं बाहर जाता हूं। जरा घूम आऊंगा।" और फिर, अंधेरी-उजली सड़कों पर वह देर तक घूमता

रहा। फिर लौट कर सोया, तो नींद ऐसी गहरी आई कि पता भी नहीं चला और सवेरा हो गया।

वैसे रोज सुबह वह घूमने नहीं जाता। मगर आज हवा की ताजगी और मीठी नींद के आराम से चन्द्रकान्त का दिल बहुत प्रसन्न था।

नाश्ता करके वह बाहर निकल पड़ा। अनायास ही उसके पांव गोल दायरे की ओर उठ गए। एकाएक उसने देखा—सामने टैक्सी खड़ी है और उसके बाहर सिख ड्राइवर दो आदमियों से बहस कर रहा है।

उत्सुकता उसे आगे खींच ले गई। अरे! ये दो आदमी तो उसके कल वाले साथी हैं!

सर्दी जा चुकी थी, मगर गर्मी का आगमन अभी नहीं हुआ था। सो धूप अच्छी नहीं, तो बुरी भी नहीं लगती थी। तभी खुली धूप में सुबह के साढ़े-सात बजे चार आदमी बातों में लगे हुए थे।

"आप दोनों साहब कोई फ़िक्र न करें।"— सिख ड्राइवर त्रिलोक-सिंह कह रहा था—"चवन्नी आप में से किसी की नहीं थी। जिसकी थी, उसके पास चली गई।"

चन्द्रकान्त आकर नवीन के पीछे खड़ा हो गया। नवीन ने घूम कर उसकी ओर देखा, फिर त्रिलोक सिंह की ओर मुड़ कर कहा—"मगर भाई, मैं कह रहा हूं, वह मेरी थी। तुमने उसे फेंक दिया, तो ठीक किया। मगर अपनी चवन्नी तो ले लो।"

"नहीं भाई"—मदन गोपाल ने कहा—खोटी चवन्नी मेरी थी। ये तो ऐसे ही दोष अपने ऊपर ले रहे हैं। संभालो अपनी चवन्नी और हमें जाने दो।"

चन्द्रकान्त की समझ में कुछ भी नहीं आया—यह माजरा क्या है? ये दोनों आदमी आखिर चवन्नी देने के लिए इतने बेताब क्यों हैं? इसी उधेड़-बुन में खड़ा चन्द्रकान्त आंखें झपकाता रहा।

त्रिलोक सिंह ने कहा—"लीजिए, ये तीसरे महाशय भी आ गए। ये भी शायद यही कहने आए हैं कि खोटी चवन्नी इनकी थी।"

चन्द्रकान्त अचकचा गया। एक-दो कदम पीछे हट कर उसने

अपने-आप पर काबू पाया। फिर अनायास वह बोला—"हां, खोटी चवन्नी हमारी थी!"

त्रिलोक सिंह ठठाकर हँस पड़ा; दाढ़ी के बालों को खोसते हुए बोला—"तो मैं भी कह दूं, मेरे पास तीन खोटी चवन्नियां नहीं आईं। केवस एक आई थी, जो अब मेरे पास नहीं है—किसी नाली में पड़ी अपना मुंह काला कर रही है। अब आप जाइए—जो हो गया, सो हो गया।"

नवीन क्रोध में आ गया;बोला—"वाह, यह कैसे हो सकता है! कसूर किसी का और सजा आप भुगतें। आपका नुकसान क्यों हो?"

"तो आप लोग आपस में फैसला कर लें। जिसकी खोटी चवन्नी थी, वह चार आने मुझे दे दे। बस, झगड़ा खत्म।" त्रिलोक सिंह ने फैसला देते हुए कहा।

अब नवीन और मदन गोपाल वहस में लग गए। जब दस मिनट लगातार बहस होती रही तो चन्द्रकान्त भी संग्राम में कूद पड़ा; बोला—"आप लोग लड़ता क्यों है? मैं समझता है।" नवीन और मदन गोपाल ने चन्द्रकान्त की ओर देखा। चन्द्रकान्त ने कहा—"ऐसा करो हम तीनों का चवन्नी है—तीनों का खोटा है। पर ड्राइवर का एक चवन्नी गया। सो, हम तीन इसको एक चवन्नी दें।"

"वाह, क्या बात कही है बाबू ने।" त्रिलोक सिंह ने दाद देकर कहा—"बिलकुल ठीक।"

"अच्छा तो ऐसा ही सही।"—नवीन ने कहा—"यह लो दुअन्नी"

'दोअन्नी नहीं, पांच पैसा। तुम भी पांच पैसा निकालो।"

मदनमोहन के पास छः पसे थे।। अभी सब्जी लेकर लौटा था। बोला—"यह लीजिए छः पैसे, वरना एक पैसा कम होगा।"

"कोई बात नहीं।" त्रिलोक सिंह ने कहा—जहां चार आने की चोट सहता था, वहां एक पैसा क्या है?"

"नहीं", चन्द्रकान्त ने कहा—"तुम पांच पैसा देगा। छः पैसा मैं दूंगा।"

"वह क्यों?"—नवीन ने पूछा।

"बस, हमारा फैसला है।"—चन्द्रकान्त ने कहा।

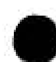
"यह नहीं होगा"।- मदन गोपाल ने कहा—"छः पैसे मैं दूंगा।"

"अब आप लोग झगड़ा खत्म भी करेंगे, या चलते ही जाएँगे ?"—त्रिलोक सिंह ने सवाल किया।

चन्द्रकान्त ने कहा—"छः पैसे मैं देगा। मैं देगा, बस !"

इतनी जोर से चन्द्रकान्त ने अपनी बात कही थी कि नवीन और मदन गोपाल चुप हो गए। तीन पैसे नवीन को वापस देकर चन्द्रकान्त ने एक चवन्नी जेब से निकाली। इससे वह घर लौटने से पहले हलवाई की दुकान पर पूरी का मजा लेता। मगर अब केवल अढ़ाई आने रह गए थे।

पर चन्द्रकान्त को इस तरह छः पैसे दे देना जरा भी बुरा प्रतीत नहीं हुआ। त्रिलोक सिंह को चवन्नी देकर जब वह चला, तो न जाने क्यों, बहुत खुश था—जैसे उस पर से कोई बोझ उतर गया हो।



स्पर्धा

गोविन्दवल्लभ पन्त

इस पार रहते थे चतुरा ग्रौर चन्नन – दोनों एक ही मुहल्ले के निवासी, बचपन के साथी मित्र। खेल-कूद में दोनों की बड़ी प्रीति थी। स्कूल विना कुछ पढ़े-लिखे ही छोड़ दिया। दिन भर इधर-उधर घूम कर ही वक्त बिता देते थे। दोनों के सिर पर माता-पिता मौजूद थे, भोजन, वस्त्र ग्रौर निवास की कोई चिन्ता थी नहीं उन्हें।

कभी वे गुल्ली डंडा खेलते ग्रौर दौड़ लगाते, कभी कबड्डी खेलते ग्रौर पतंग उड़ाते। ग्रखाड़े में वे कुश्ती लड़ते, डंड-बैठक लगाते, भंग घोटते, तेल की मालिश करते ग्रौर नहा-धो, धुले कपड़े पहन जब छाती बाहर निकाल, माथा ऊंचा कर, बाजार में निकलते, तो सब लोग उनके स्वास्थ्य की प्रशंसा करते।

उन दोनों के पिता दो सेठों की कोठियों में प्रधान दरबान थे। जब ग्रपने लड़कों को वह देखते, तो ग्रापस में बातचीत करते— "क्या करना है पढ़ा कर हमें। तन्दुरुस्ती उस विद्या से हजार गुना ग्रच्छी है, जो समय से पहले नौजवानों की रीढ़ तोड़ कर उनकी ग्रांखों पर चश्मा रख देती है।"

बीच में थी घोरा नदी। गर्मियों में बिलकुल दुबली-पतली—छोटे-छोटे बच्चे भी जिस पर पैर रख कर पार हो जाते थे। लेकिन बरसात में जब धीरे-धीरे घोरा नदी का विस्तार बढ़ जाता, तब दोनों तटों पर की काफी भूमि गर्भस्थ कर वह ऊपर चढ़ जाती—बड़ी-बड़ी दीवालों

को ध्वस्त कर देती, पेड़ों को जड़ से उखाड़ कर अपने साथ बहा ले जाती और ऊंचे ऊंचे मकानों को अपनी लहरों के वेग से कम्पायमान कर देती।

घोरा के इस पार थी नगर की नई आबादी और उस पार था प्राचीन शहर। नए और पुराने का अटूट सम्बन्ध था। घोरा नदी जब दुबली-पतली रेखा-सी बहती, तव वह सम्बन्ध हजारों मार्गों से होता रहता; पर जब वह अगाध सलिला हो जाती, तो उसके ऊपर के तीन पक्के पुल ही नये और पुराने की एकमात्र कड़ियां हो जाते।

उन तीनों पुलों के नीचे से नई वर्षा के द्वन्द्व से मटियाला बना हुआ अथाह जल और उसका वेग मनुष्य के बल को चुनौती देता। वह मनुष्य के सहज प्रवेश का अवरोध कर उसकी हँसी उड़ाता।

घोरा के इस पार रहते थे चतुरा और चन्नन और उस पार रहती थी गुलाबी। गुलाबी का पिता नदी के किनारे पर स्थित मुरलीमनोहर के मन्दिर का आंगन धोता और चारों तरफ की फूलों की क्यारियों को सींचता था। गुलाबी मन्दिर की सीढ़ियों से उतर कर चाहे जहां चली जाती, पर वर्षा ऋतु में जब घोरा का पानी एक-एक सीढ़ी कर मन्दिर के आंगन तक चला जाता, तो वह मन्दिर की बंदिनी हो जाती और उसका दम घुटने लगता।

चतुरा और चन्नन हर वर्षा ऋतु में घोरा की चुनौती की उपेक्षा करने के लिए उसमें कूद पड़ते कमर बांध कर। वे उसमें तैरते-तैरते मुरलीमनोहर के मन्दिर की दीवार पर चढ़ जाते और गुलाबी अपनी नवीन वय की संधि पर खड़ी हुई, बड़ी विचित्र मुसकान से उन दोनों के साहस की अभ्यर्थना करती।

हां, गुलाबी ने ही उन दोनों मित्रों के बीच में एक गहरी खाई खोद दी। एक दिन चतुरा बोला—"चन्नन, गुलाबी ने मेरे तैरने के कौशल की प्रशंसा की है।" चन्नन ने मुट्ठी बांध कर जवाब दिया—"नहीं, मेरे कौशल को सराहा है।"

और, उन दोनों के बीच विग्रह बढ़ चला। उनकी आपस की फूट का कोई निराकरण नहीं कर सका। अन्त में, दोनों ने गुलाबी के

पास आकर ही इस बात का फैसला करना चाहा। इस बार वे थल की राह से बहुत घूम कर, रेल के पुल से, मुरलीमनोहर के मन्दिर में गए। उन्होंने पूजा का बहाना बनाया और धीरे-धीरे गुलाबी से अपने मर्म की कथा कह डाली।

गुलाबी जरा हँस कर बोली—"हां, मैंने किसी के तैरने की प्रशंसा तो जरूर की है।"

"तुमने मेरी प्रशंसा की है।"—चन्नन बोला।

गुलाबी बोली—"हो सकता है।"

चतुरा रुष्ट होकर कहने लगा—"नहीं, तुमने मेरी ओर देख कर कहा था।"

गुलाबी बोली, गालों पर हाथ रख कर—"मुझे तो कुछ भी याद नहीं है। लेकिन मेरी तारीफ को लेकर तुम्हें क्या करना है?"

चतुरा ने जवाब दिया—"वाह, करना कैसे नहीं है; उससे मेरा उत्साह बढ़ता है।"

गुलाबी को कुछ याद आई; वह बोली—"क्या हानि है? तब एक बात हो सकती है। तुम दोनों काठ के पुल पर से एक साथ नदी में कूदो—जब मैं यहां से अपना दुपट्टा हिला कर इशारा करूं।"

दोनों बड़े जोश में भर कर बोले—"स्वीकार है।"

"और, जो सबसे पहले तैर कर मुझे छू लेगा, वह तुम दोनों में श्रेष्ठ होगा। फिर क्यों कोई संशय रह जाय? है न ठीक?"

"हां, स्वीकार है।"—दोनों बोल उठे।

चन्नन ने मोह में पड़ कर कहा—"लेकिन इसके बदले में पहले आनेवाले को मिलेगा क्या?"

"मैं श्रेष्ठ कह कह उसकी प्रशंसा करूंगी, कह तो रही हूं।"

"कोरी प्रशंसा से क्या होगा?"—चन्नन ने कहा—"प्राणों की बाजी लगानी पड़ेगी हमें।"

चतुरा ने बड़े विस्मय से चन्नन की ओर देखा। चन्नन कहने लगा—"क्या होगा चतुरा? कोरी प्रशंसा से क्या होगा?"

"फिर क्या यह जो सोने का लाकेट मैं अपने गले में पहनती हूं, यह उतार कर दे दूं तुम्हें ?"—गुलाबी ने कहा—"बड़े होशियार हो तुम !"

"तो क्या दूसरों के नौजवान बेटे, इस मद में भरी घोरा के पानी में डूब मरें—उनकी किसी हड्डी का भी पता न चले ? नहीं, होशियार तुम हो !"

"क्या चाहते हो फिर ?"—गुलाबी ने पूछा।

"जीवन का दाव लगाने वाले को उसके योग्य वस्तु का दान !" चतुरा ने थोड़ी-सी गति देकर कहा—"बस, तुम समझ लो।"

गुलाबी हंसने लगी—"पिता जी से पूछना पड़ेगा।"

"हमने तो अपने माता-पिता किसी से भी नहीं पूछा है।"—चन्नन ने जवाब दिया।

गुलाबी ने कुछ सोचा-विचारा और कहा—"अच्छी बात है।"

"कहो भी तो क्या है वह अच्छी बात !"

गुलाबी ने पैर का अंगूठा मोड़ कर धरती पर दबाया। चतुरा बोला—"कहती क्यों नहीं, तैरने में जो सबसे पहले होगा, तुम उससे विवाह कर लोगी।"

गुलाबी हंसने लगी और सबने उसकी सहमति मान ली।

दूसरा दिन इस दौड़ के लिए रखा गया। चतुरा और चन्नन की यह बात सारे मुहल्ले में और फिर सारे शहर में प्रसिद्ध हो गई। और भी अनेक नवयुवक उस दौड़ में भाग लेने के लिए तैयार होने लगे।

उसी दिन संध्या समय गुलाबी के पिता ने अपनी लड़की की शादी चन्नन के साथ कर देने के लिए उसके पिता को वचन दे दिया। जब उसने घर आकर यह खबर चन्नन को दी, तो वह उसी समय दौड़ कर चतुरा के पास गया और बोला—"भाई, मुझे तो अब कल तैरने की कोई जरूरत नहीं रही।"

"क्यों ?"

"वह बिना प्रतियोगिता के ही मुझे प्राप्त हो गई।"—विजय की भारी खुशी के साथ उसने कहा।

"क्या मतलब है तुम्हारा ?"

"उसकी मंगनी हो गई मेरे साथ।"

"यह नहीं हो सकता! कभी नहीं हो सकता !"—चतुरा चिल्लाया।

"क्यों नहीं हो सकता ? उसके पिता ने वचन दे दिया है।"

"उनसे पहले उनकी लड़की जबान हार चुकी है। कह नहीं चुकी वह—जो तैरने में पहला होगा, मैं उसी से अपना विवाह करूंगी।"—चतुरा ने प्रतिरोध किया।

"उसके कहने से क्या होता है ?"

"विवाह उसका है, उसके कहने से होगा क्यों नहीं कुछ ?"—चतुरा बोला—"यह चोरी का रास्ता है। अगर ऐसे ही गुलाबी तुम्हारे मन में गड़ गई है, तो क्यों घोरा की गहराई से डरते हो ?"

"डरता कौन है ?"—चन्नन ने ऊंचे स्वर में कहा।

"तुम्हीं तो। नहीं तो उसके पिता से वचन ले लेने की क्या जरूरत थी ? चन्नन, मैंने तुम्हें ऐसा डरपोक नहीं समझा था।"

"मैं ऐसा डरपोक नहीं हूं।"

"तो कल तैरने के लिए तैयार रहो। अभी जाकर अपने पिताजी से कह दो, गुलाबो की मंगनी नहीं हो सकती। उसने खुद अपना स्वयंवर रचा है।"

चन्नन ने कुछ सोच-विचार कर कहा—"अच्छी बात है।"

"शाबाश ! जाओ फिर, देर न करो। मैं भी अभी सारे मुहल्ले में इस बात को मशहूर करता हूं। हम दो ही क्यों, जिस किसी क्वांरे नवयुवक की इच्छा होगी गुलाबो के लिए, वह तैर सकता है।"

चन्नन ने जाकर अपने पिता से यह बात कह दी। उसने जवाब दिया—"गुलाबी का पिता चाहे जिससे उसका विवाह कर सकता है।"

"पिताजी ! वे लोग बड़ा हंगामा मचा देने पर उतारू हैं। कहते हैं, गुलाबो का स्वयंवर होगा। अगर उनकी बात न मानी जाएगी, तो पिताजी क्या बताऊं······वे बड़े शरारती लड़के हैं !"

"मैं कहता हूं, तुम बड़े डरपोक हो।"

"नहीं पिताजी, मैं जरा भी डरपोक नहीं हूं। धरती पर क्या पानी के भीतर भी मैं अपना साहस दिखा सकता हूं। मेरी बराबरी कोई नहीं कर सकता। आपको जरा भी इस मामले की चिन्ता नहीं करनी चाहिए।" —चन्नन ने कहा—"पिताजो, घोरा नदी के भीतर की इस दौड़ में पहला निकलने वाला एक ही दिन में सारे शहर में प्रसिद्ध हो जाएगा।"

"और अगर तुम पीछे रह गए, तो ?"

ऐसा सोचना ही क्यों चाहिए आपको ? नहीं आया, तो भी क्या हानि है ? दौड़ में एक ही तो पहला आता है।"

लेकिन वह बहू जो हाथ से चली जाएगी !

चन्नन ने अपने पिता के सामने फिर किसी अभिमान की बात नहीं कही। वह अपने बाहुबल का भरोसा रखता हुआ चला गया।

दूसरे दिन शहर और मुहल्ले के बहुत से क्वारे नवयुवक सुबह से ही आकर पुल पर जमा हो गए। उन्होंने उस पार गुलाबी के पास सन्देश भेजा—"हम लोग यहां पानी की दौड़ के लिए तैयार हैं। और तुम्हारे संकेत की प्रतीक्षा में हैं।"

गुलाबी ने मन्दिर की दीवार पर चढ़ कर, दूर पुल की ओर नजर की। प्राय: एक फलांग की दूरी पर होगा वह। लगभग दो दर्जन नवयुवक नंग-धड़ंग, एक-एक लंगोटे पहने, पुल की परिधि पर खड़े थे और उनके पीछे क्षण-क्षण बढ़ते हजारों दर्शकों का समूह था।

एक तरफ एक दर्शक बोला—"क्या होगा यहां ?"

दूसरे ने जवाब दिया—"तैराकी का दंगल। कौन करा रहा है, न जाने ?"

एक तीसरे ने उनके भोलेपन पर अपनी चतुराई की कील ठोक दी—"गांव से आए जान पड़ते हो, राज्यपाल के कप की दौड़ है।"

दूसरी तरफ एक व्यक्ति कह रहा था—"लेकिन इनमें से कुछ तो यों ही शौकिया चले आए हैं। कोई हिम्मत नहीं जान पड़ती इनमें। शीघ्र ही, विना पानी में कूदे, कोई बहाना कर लौट जाएंगे।"

दूसरे ने कहा—"मुकद्दू जरूर तैरने की कला में होशियार है; मगर सौ-पचास गज तक गनीमत है—पानी को चीर सकता है वह। उससे ज्यादा दम साथ नहीं दे सकता उसका—टें बोल जाता है।

"मन्दिर के माली की लौंडिया—गुलाबी; उसी के लिए हो रही है यह दौड़ !"

"दौड़ क्या, स्वयंवर रचा जा रहा है।"

"बड़ा उस्ताद है उसका बाप ! वैसे तो कोई तैयार नहीं हुआ इस लड़की को ले जाने के लिए। लेकिन भाई, वाह ! यह नुस्खा बड़ा बढ़िया रहा !"

"चन्नन मार ले जाएगा बाजी। वह तो तीर सा चला जाता है पानी में।"—एक ने कहा।

दूसरे ने जवाब दिया—"चतुरा भी कुछ कम नहीं है।"

"चन्नन के सामने कौन ठहर सकता ?"—पहले ने फिर अपनी बात पर जोर दिया।

दूसरे ने हाथ बढ़ा कर कहा—"बाजी रखते हो ?"

"दस-दस रुपया !

"मंजूर है।"

"दिखाओ भी तो रुपए।"—पहले ने अपनी जेब से एक नोट निकाल कर कहा।

"रुपए दिखा कर क्या होता है ? बात का धन क्या छोटा है ? मैं क्या कोई लुच्चा-लफंगा हूं ?"

इतने में ही दर्शकों की भीड़ में एक उतावली फैल गई और तैराकों के बीच में एक तत्परता। वे सब के सब पुल की मेढ़ पर से पानी में कूदने के लिए तैयार हो गए। उन सबकी आंखें दूर, मन्दिर की दीवार पर खड़ी, गड़ी हुई थीं।

उसी समय गुलाबी ने अपनी साड़ी का छोर अपने हाथ से उठा कर नीचे कर दिया। सब के सब प्रतिस्पर्धी कूद पड़े पानी में एक ही साथ।

कूदते ही चन्नन सबके आगे हो गया। एक ही मिनट में वह सबसे आगे के तैराक से भी कोई तीस गज आगे हो गया। वह आगे का तैराक था, चतुरा।

चतुरा की प्रगति देख चन्नन ने नाक पकड़ कर डुबकी ली और पानी के नीचे छिप गया। प्रतियोगियों को भ्रम में डाल देने के

लिए ऐसा वह अकसर किया करता था। भीतर ही भीतर पानी को काटता हुआ, जब वह विजय के स्थल पर सबसे आगे खड़ा हो जाता तो सभी चकित रह जाते थे।

लेकिन चतुरा ने साहस नहीं छोड़ा। वह तेजी से पानी को चीरता हुआ आगे बढ़ रहा था और प्रत्येक क्षण चन्नन को पानी से ऊपर निकल गुलाबी का हाथ पकड़ते हुए देख रहा था।

पर चन्नन नहीं दिखाई दिया। चतुरा मन्दिर की दीवार के निकट पहुंच गया। गुलाबी उसकी ओर अपने हाथों को हिलाती हुई कहने लगी—"चतुरा! चतुरा!"

लेकिन चतुरा नहीं बढ़ा उसकी तरफ। एक गहरी छाया उसके मन में फैल गई। भारी अनिष्ट की आशंका में वह फिर लौट गया पुल की ओर। वह अपनी आर्त पुकार से घोरा के दोनों तटों में प्रतिध्वनि उपजाने लगा।—"चन्नन! चन्नन!" अन्य सब प्रतियोगी, उसकी मूढ़ता पर आश्चर्य कर रहे थे।

दौड़ में तीसरा आने वाला महीपाल था। वह मन्दिर की दीवार पर चढ़ कर गुलाबी का हाथ पकड़ने दौड़ गया। गुलाबी भागती हुई बोली—"ठहरो! ठहरो! नदी में कोई भयानक घटना हो गई है। उसको भुला कर तुम्हारा मेरा हाथ पकड़ना—यह मनुष्यता नहीं है।"

"घटनाएं होती ही रहती हैं। बड़े-बड़े नामधारी तैराकों को हरा-कर मैं दौड़ में पहला आया हूं—यह कोई घटना नहीं? अपने प्रण से भागो नहीं। मुझे अपना हाथ पकड़ लेने दो। फिर मैं अपने प्राणों के विसर्जन पर भी देख लूंगा कि घटना कहां पर हुई है।"—महीपाल ने कहा।

"पहले चतुरा आया है।"

"पहले मैं आया हूं, जिसने तुम्हें पकड़ लिया।"—महीपाल ने गुलाबी का हाथ पकड़ लिया। अब तक अधिकांश तैराक और बहुत से दर्शक मन्दिर के आंगन में घुस आए थे। सबने उन दोनों के चारों ओर घेरा बांध कर कहा—"महीपाल की जय!"

चतुरा को एक स्थान पर घोरा के जल में बुलबुले उठते दिखाई दिए। चतुरा ने वहां पर तुरन्त ही नाक पकड़ कर डुबकी लगाई।

पानी के भीतर उसने चन्नन को एक काठ के खम्भे में फंसा हुआ पाया। उसमें जड़े एक तार के कांटे में चन्नन के लंगोट का एक डोरा अटक गया था। डोरा बहुत मजबूत था और खम्भा धरती में गड़ा हुआ। चन्नन बड़ी देर से अपनी मुक्ति के लिए छटपटा रहा था।"

चतुरा को निकट पाकर चन्नन उत्साह से भर गया। उसकी मदद से वह तुरन्त ही उस कांटे से निकल गया। दोनों क्षण भर में पानी की सतह पर आ गए।

चन्नन बोला—"चतुरा, अगर तुम जरा भी देर में आते, तो दम घुट कर मेरी मृत्यु हो गई होती। विजय का पुरस्कार छोड़कर भी तुम चले आए!"

"भगवान, तुम्हें बचाना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने मुझे ऐसी मति दी।"

"नहीं करते तुम गुलाबी से प्रेम?"

"नारी का प्रेम फिर-फिर मिल सकता है, लेकिन एक मित्र का प्रेम? मित्र को इस तरह मृत्यु के चक्कर से बचा लेने का आनन्द? दोस्त, यह कितनी बड़ी चीज है! मैंने इसे प्राप्त किया!"—चतुरा ने चन्नन का हाथ पकड़ कर कहा।

"लेकिन—" चन्नन ने सहसा मन्दिर के आंगन की तरफ देखा।

वे दोनों मन्दिर के करीब पहुंच गए थे। दोनों ने भीड़ को पुकारते हुए सुना—"महीपाल की जय!"

दोनों ने एक दूसरे को देखा। एक-दूसरे की बात समझ गए। दोनों धीरे-धीरे मन्दिर के आंगन में पहुंच गए। गुलाबी ने महीपाल का हाथ छुड़ा कर चतुरा का हाथ पकड़ लिया।

"न्यायतः दौड़ में पहला चन्नन हैं।"—चतुरा ने हाथ पकड़ कर चन्नन को खींच लिया!

"नहीं गुलाबी, इस दौड़ में तुम्हारे बदले मुझे पुनर्जन्म मिल गया और यह मित्र—यह सबसे बड़ा पुरस्कार है।"

महीपाल ने फिर गुलाबी का हाथ पकड़ लिया—"मार्ग की बाधाएं मैंने नहीं बनाईं। दौड़ में मैं ही पहला आया हूं।"

चतुरा और चन्नन, दोनों ने भीड़ से बाहर निकलते हुए पुकारा—"महीपाल की जय!"



रजील

आचार्य चतुरसेन शास्त्री

27 वीं अगस्त को आधी रात बीत जाने पर भी अमृतसर नगर नहीं सो रहा था। बहुत-से मुहल्ले धांय-धांय जल रहे थे। अधजले मकान दुमंजिले, तिमंजिले ढह-ढह कर गिर रहे थे। उन मकानों में रहने वालों के प्राण बचाने तथा आग बुझाने का कोई बन्दोबस्त ही न था। चारों ओर हाहाकार मच रहा था। बहुत-से स्त्री-पुरुष गिरते हुए मलबों के नीचे दबे हाय-हाय कर रहे थे। बहुत-से बचे-खुचे स्त्री-पुरुष अपने बच्चों को गोद में लिए घिसटते हुए अर्द्ध-विक्षिप्त की भांति गलियों की अंधेरी छाया में अपने को छिपाते हुए नगर से बाहर जाने की चेष्टा कर रहे थे। प्रत्येक क्षण में उन्हें मौत से भेंट करने की सम्भावना थी। झुण्ड के झुण्ड कुछ जन. जो जिसके हाथ लगा था, वही शस्त्र-बन्दूक, भाला, बर्छी तलवार, गंडासे, खुरपी, लट्ठ, लोहे की छड़, चीमटे लिए दस-बीस-तीस-पचास या सौ-पौन-सौ का जत्था बांधे विपक्षियों की टोह करते घूम रहे थे। दया-अनुनय विनय का वहां कोई प्रश्न ही न था। यह केवल विद्वेष और क्रोध ही न था, इसमें बदले और प्रतिहिंसा की दुर्दम्य भावना भी थी। मरे हुए जनों की लाशें गली-कूचों में नालियों में जहां-तहां पड़ी थीं। बहुत उनमें सड़ गई थीं और फूल गई थीं। उनमें से असह्य दुर्गन्ध उठ रही थी। उनमें कुछ मुमूर्षु ऐसे भी थे, जिनके कठोर प्राणों को और अधिक यन्त्रणाएं सहन करनी थीं वे सिसक रहे थे। परन्तु इस भय से वे

अभागे कराह भी न सकते थे कि कुछ आततायी उन्हें जीवित समझ उन्हें दो-टूक न कर दें। प्राणों का मोह ऐसा होता है। चारों ओर शोर मचा था। दूर से भांति-भांति की डरावनी आवाजें आ रही थीं। मकानों के गिरने के धड़ाके और बन्दूकों की धमक चारों ओर से सुनाई पड़ रही थी।

इसी समय एक बड़ी-सी मोटरगाड़ी अंधेरी गलियों को पार करती हुई एक विशाल अट्टालिका के सामने आ खड़ी हुई। अट्टालिका प्रायः ध्वस्त हो चुकी थी। मालूम होता है, एक-दो दिन पहले ही उसमें आग लगा दी गई थी। ऊपर की सब मंजिलें ढह गई थीं, छतें सब गिर चुकी थीं, केवल झुलसी हुई दीवारें खड़ी थीं। मलवे के ढेर से धुआं निकल रहा था। कोई-कोई धरन अब भी आग के अंगारे की भांति लाल-लाल चमक रही थी।

मोटर खड़ी करके ड्राइवर ने हार्न बजाया। एक मोटा-ताजा सिख सरदार मोटर को ड्राइव कर रहा था। हार्न सुन कर खण्डहर के पीछे से एक सिर धीरे-धीरे बाहर निकला। फिर वह पुरुष चारों ओर चौकन्ना-सा हो देखने के बाद मोटर के निकट आया। इस पुरुष की आयु साठ से अधिक होगी। भरी हुई खिचड़ी दाढ़ी, बड़ी-बड़ी आंखें, मांसल शरीर, ऊंचा कद। किन्तु फटे और गन्दे वस्त्र, जो राख और धूल में काले हो रहे थे। सिर और दाढ़ी के बालों में धूल भरी थी। पैर में जूता न था। एक हाथ पट्टी में लटक रहा था।

आगन्तुक को देख कर ड्राइवर सरदार ने कहा—हाजी साहब जल्दी कीजिए। वरना हम फंस जाएंगे। क्रुद्ध जनों का एक गिरोह इधर ही आ रहा है।"

"लेकिन भाई जान, कोई खतरा तो नहीं है?"

आप अजब बहस में वक्त बर्बाद कर रहे हैं। खतरे के मुंह में तो आप बैठे ही हैं। झटपट इससे बाहर निकलिए वरना मैं चला।"

हाजी साहब ने सरदार की चिरौरी कर के कहा—"नहीं नहीं मिहरबान, आपने मेरी इज्जत और जान बचाने का वादा किया है। बखुदा ऐसा न कहें।"

"तो आप फौरन गाड़ी में बैठिए, वरना आपके साथ मुझे भी मरना होगा।"

"बस आधा मिनट।"

इतना कह कर हाजी साहब खण्डहर में लपक गए। और थोड़ी ही देर में उनके पीछे चार स्त्रियां बुर्के में लिपटी चली आ रही थीं। वे सब जल्दी-जल्दी मोटर में घुस गईं।

चौदस के चन्द्रमा की स्निग्ध ज्योत्स्ना इस वीभत्स और मनहूस वातावरण पर आलोक फेंक कर अट्टहास-सा कर रही थी। मोटर में पिछली सीट पर एक स्त्री सिकुड़ी हुई गट्ठर-सी बनी बैठी थी। उस पर अभी किसी की दृष्टि न थी। हाजी साहब के साथ जो तीन स्त्रिया थीं, उनमें दो उनकी युवती पुत्रियां और एक उनकी पत्नी थी। पहले लड़कियां ही उतावली से मोटर में घुसीं। घुसते ही वे उस स्त्री पर जा पड़ीं। भीतर एक स्त्री है, यह देखते ही वे भय से चीख पड़ीं। भय तो उस स्थान के प्रत्येक परमाणु में छाप ही रहा था। उसका चीखना सुनते ही हाजी साहब ने रिवाल्वर उस स्त्री की छाती पर तान दिया और गरज कर कहा—"तू कौन है?"

ड्राइवर ने हाजी जी का हाथ पकड़ कर कहा—"हैं हैं, यह क्या करते हैं? पहचानते नहीं बी हमीदन हैं, ये भी लाहौर जाएंगी।"

बी हमीदन अमृतसर की प्रसिद्ध वेश्या थी। हाजी साहब उसे अच्छी तरह जानते थे। उसका प्रसाद भी पा चुके थे। संगीत और रूप दोनों ही से उसने अमृतसर के धनी-मानी जनों में ख्याति अर्जित की थी। उसकी एक आलीशान अट्टालिका अपनी थी। हमीदन बुर्का नहीं पहने थी। उसका रुपहला रूप उस चांदनी में इस वीभत्स और भय के वातावरण में भी बहुत मोहक लग रहा था।

हाजी साहब ने हमीदन को अच्छी तरह पहचान कर ड्राइवर से कहा—"मगर, इसके क्या माने? मैंने पूरी मोटर का किराया पांच हजार रुपया तुम्हें लाहौर पहुंचाने का दिया है। अब तुम यह सवारी इसमें नहीं ले जा सकते।"

सरदार ने नाराजी के स्वर में कहा—"जनाब, अमृतसर से लाहौर

जाने का चार सवारियों का मोटर भाड़ा पांच हजार रुपया नहीं होता, सिर्फ पन्द्रह रुपया होता है। यह पांच हजार रुपया आपके खानदान की इज्जत और जान बचाने तथा अपनी जान जोखिम में डालने का मूल्य है। नाहक आप चकल्लस में वक्त बरबाद मत कीजिए। झटपट गाड़ी में बैठ जाइए।''

''मगर मेरी लड़कियां और बीबी क्या एक बाजारू रजील औरत के बराबर बैठेंगी? तुम जानते हो हाजी करीमउद्दीन अमृतसर ही में नहीं तमाम पंजाब में एक भारी इज्जत रखता है। तुम्हें यह भी मालूम है कि मेरी बड़ी लड़की नवाब मुईनुद्दीन की बेगम है। वे जब सुनेंगे कि उनकी बेगम एक बाजारू औरत के साथ गाड़ी में बैठ कर आई है तो वे उसका मुंह भी न देखेंगे।''

''तो हाजी साहब यह आपकी मर्जी है। आप मत जाइए। मगर बी हमीदन जरूर जाएगी। एक तो इन्होंने मुझे अपने अकेले को लाहौर पहुंचाने का दो हजार रुपया दिया है, दूसरे यह मेरी दोस्त है।''

''तो इसका यह साफ मतलब है कि तुम मुझे धोखा दे रहे हो।''

''धोखा देना होता तो हाजी साहेब, यह मेरे बगल में किरपाण है। अभी तुम चारों को काट फेंकूंगा। अपनी रिवाल्वर के जोश में मत रहना।''

''मगर मैंने तुम्हें पांच हजार रुपया दिया है।''

''तो मैं भी जान पर खेल कर तुम्हें लाहौर पहुंचा आने पर आमादा हूं।''

''लेकिन मेरी लड़कियां और बेगम अस्मत वाली पर्दानशीन शरीफ औरतें हैं। वे एक रजील, बाजारू औरत के पास नहीं बैठ सकतीं।''

''तब फिर आप मत जाइए। मैं जाता हूं।'''ड्राइवर ने गाड़ी स्टार्ट करने को हाथ बढ़ाया।''

हाजी साहब ने आगे बढ़ कर कहा—''नहीं, नहीं भाई, ऐसा मत करो। हमें मौत के मुंह में मत ढकेलो। यह लो पांच हजार रुपया और ले लो। इस बाजारू औरत को उतार दो यहीं।''

ड्राइवर ने हंस कर कहा—''पचास हजार लेकर भी नहीं। आप

रुपया मत दिखाइए। रुपया ही लेना होता तो तुम चारों को मार कर उस बक्स में जो कुछ तुम्हारे पास है सब ले लेता। याद रखो हाजी साहब, हर एक का धर्म है। मैंने तुमसे पांच हजार रुपया इसलिए लिया है कि तुम्हें और तुम्हारे कबीले को सही-सलामत लाहौर पहुंचा दूं। मैं इस कौल पर आमादा हूं—अब आप नाहक हुज्जत कर रहे हैं। शोर बढ़ रहा है मालूम होता है भीड़ इधर ही आ रही है। बैठना हो बैठिए। वरना मैं चला। बस, मैं अपना कौल पूरा कर चुका।"

हाजी साहब की आंखों से आंसुओं की चौधार वर्षा होने लगी। उन्होंने पत्नी से कहा—"बैठो, बेगम बैठ जाओ। लाचारी है। बेटियो बैठ जाओ।"

बेगम मुईनुद्दीन ने साँप की तरह फुफकार मार कर कहा—"अब्बाजान, आप मुझे एक रजील बाजारू औरत के बराबर बैठने को मजबूर कर रहे हैं। अपना पिस्तौल निकाल कर मेरे सीने में गोली मार दीजिए। मैं अपनी इज्जत को यों बर्बाद न करूंगी, जान दे दूंगी।"

हाजी साहब ने फिर एक बार ड्राइवर की ओर देखा धीरे से कान में कहा—"मान जाओ मिहरबान। दस हजार ले लो, मेरे खानदान की इज्जत बचा लो। ताउम्र तुम्हारा अहसान मानूंगा।"

ड्राइवर ने गुस्से से लाल-लाल आंखें करके हाजी की ओर देखा और उन्हें एक ओर धकेल कर मोटर स्टार्ट कर दी।

हाजी जी ने दोनों हाथ ऊंचे करके कहा—"अच्छा, अच्छा तुम्हारी ही बात रहे भाई। बैठो बेगम, बैठो बैठो।"

उन्होंने धकेल-धकाल कर सबको गाड़ी में ठूंस दिया। भीड़ नजदीक आ चुकी थी। पर इसी बीच मोटर हवा हो गई।

× × ×

सावन की रात। चौदस का चांद काले-सफेद बादलों में अठखेलियां कर रहा था। पंजाब पर कैसी बीत रही है, यह उसे ज्ञात न था। उसी चांद की चांदनी में कार लाहौर की सड़क पर दौड़ रही थी। बस्ती का कोलाहल दूर होता जा रहा था। यात्रियों के हृदय, जो भय

के बोझ से दबे हुए थे यत्किंचित हल्के हो रहे थे। सब कोई चुप थे। उनके सांस की आवाज मोटर की घुर्र-घुर्र में घुल-मिल रही थी। अभी यात्रियों को भय ही भय था। कुल सोलह मील का सफर था, जो आसानी से एक घण्टे में पूरा हो सकता था। परन्तु इन अभागे यात्रियों को एक-एक पल युग के समान जा रहा था। वे जैसे फांसी के फंदे में झूल रहे थे। एक ही क्षण बाद क्या होने वाला है, इसका उन्हें पता न था। परन्तु जिस बात की आशंका थी वही हुआ। छः मील चलने पर सड़क के किनारे एक गांव आया। इस गांव के बाहर से लगभग 21-22 हथियारबन्द आक्रान्ता सड़क को घेर कर खड़े हुए थे। कार के पहुंचते ही उसमें से एक नौजवान ने हाथ की तलवार हवा में ऊंची करके कहा—

"मोटर रोक दो।"...साथ ही 20-25 तलवारें और बरछे म्यान से बाहर निकल आए।"

हाजी साहब और उनकी बेगम का खून सफेद हो गया। वे जल्दी-जल्दी कल्मा पढ़ने लगे।

मोटर को रोक कर ड्राइवर नीचे उतर पड़ा। उसे टार्च के प्रकाश में भली-भांति देख कर आक्रांताओं ने कहा—"अच्छा लहना सिंह है। कहो, गाड़ी में कौन है?"

"मुसलमान सवारियां हैं?"

"सब मर्द ही हैं या औरतें भी हैं।"

"एक मर्द और चार औरतें हैं।"

"कहां जा रहे हो?"

"लाहौर।"

"हम इन्हें मार डालेंगे, सबको नीचे उतारो।"

"मैंने सतश्री अकाल की कसम खाकर इन्हें लाहौर पहुंचाने की प्रतिज्ञा की थी।"

"क्या वे तुम्हारे दोस्त हैं?"

"नहीं।"

"कुछ रकम दी है?"

"दी है।"

"कितनी ?"

"पांच हजार एक और दो हजार एक।"

"कुल सात हजार ?"

"कुल सात हजार।"

इसके बाद उनमें से कुछ व्यक्ति सलाह करने को एक ओर चले गए। कुछ देर बाद एक ने आकर कहा—"तुमने उन्हें लाहौर जीता-जागता पहुंचाने की कसम ही खाई है न ?"

"बस इतनी ही।"

"अच्छा, औरतों में कोई जवान औरत भी है ?"

"तीन जवान और एक बूढ़ी है।"

"तब जवान औरतों में से एक आज रात यहां हमारे पास रहे। बाकी लोग जाएं। यह औरत यदि हमें नाराज न करेगी, तो सुबह लाहौर पहुंच जाएगी ?"

"सवारियां अमृतसर के मशहूर रईस हाजी नवाब करीमुद्दीन के घर की हैं। पर्दानशीन इज्जतदार औरतें हैं।"

"यह उनके सोचने का काम है कि वे सब जान देंगे या उनकी एक औरत अपनी अस्मत देगी।"

"पर मैं कैसे कहूं।"

"तो हम कह सकते हैं। पर तुम्हारा कहना सुहूलियत से होगा।"

"अच्छा, मैं कहता हूं।"

"सिर्फ दस मिनट का समय दिया जाता है, इसके बाद सब के सिर काट दिए जाएंगे।"

× × ×

ड्राइवर से सब बातें सुनकर हाजी साहब पागल की तरह बाल नोचने लगे। बेगम साहबा बेहोश हो गईं। और दोनों लड़कियां थर-थर कांपने लगीं। वे इस बात का निर्णय न कर सके कि क्या करें ? अपनी सब जान दें या एक लड़की की आबरू लुटावें। फिर वे किस मुंह से अपनी बेटी से ऐसी गन्दी बात कह सकते थे। उन्होंने रोते-रोते

कहा—"अफसोस, उन ज़ालिमों से कहो वे आकर हमें कत्ल कर दें। पर मैं जीते जी अपनी बेटियों की इज्जत पर हर्फ नहीं जाने दूंगा।"

ड्राइवर ने कहा—"यह मत समझिए मैंने कहने सुनने में कसर रखी होती। इस वक्त इन लोगों की आंखों में खून उतर रहा है। वे आपको मार कर भी लड़कियों की आबरू लूट सकते हैं। सब बातों पर विचार कर लीजिए। सिर्फ दस मिनट का वक्त है।"

हाजी साहब ने पिस्तौल निकाल कर कहा—"बेहतर है मैं अपने ही हाथों से लड़कियों को कत्ल कर दूं और अपनी जान भी दे दूं।"—परन्तु वास्तव में उनमें जान लेने-देने का दम ही न था।

इसी बातचीत में दस मिनट का सारा समय बीत गया। इसकी सूचना देने को आक्रमणकारियों ने हवा में एक फायर किया। गोली दगने की आवाज सुनते ही हाजी साहब के हाथ से पिस्तौल छूट पड़ा। वह ज़मीन पर लोट गए। और सिसकते हुए कहने लगे हाय—"मैं किस मुंह से कहूं कि बिटिया, अपनी अस्मत खोकर खानदान की जान बचा लो।"

बी हमीदन जब से मोटर में आकर बैठी थीं, पत्थर की तरह चुप बैठी थीं। उसने हाजी साहब की हिकारत भरी बातें अपने विषय में चुपचाप सुन ली थीं। वह जानती थीं कि जब जान के लाले आ पड़े हों तो छोटी-मोटी बातों पर विचार नहीं किया जाता। अब वह इस आकस्मिक विपत्ति में हाजी साहेब को बिलखते हुए चुपचाप देख रही थीं। अपनी बौखलाहट में उसे सब लोग भूल ही गए थे। उसकी ओर किसी का ध्यान ही नहीं गया था।

उसने कनखियों से देखा—खूंखार, आक्रमणकारियों का दल तलवार चमकाता हुआ मोटर की ओर आ रहा है। वह चुपके से मोटर से उतरी, दस कदम आगे बढ़ कर उसने आक्रान्ताओं से कहा—"आप लोग आगे मत बढ़िए। मैं अभी एक मिनट में आप के पास आती हूं।"

उस चितकबरी चांदनी रात में शराब और खून में उन्मत आक्रमणकारियों ने उस रूपसी बाला के मृदुल कंठ स्वर से आश्वासन

पाकर पाशविक अट्टहास किया। सब लोग जहां के तहां ठिठक गए। हमीदन फिर मोटर के निकट आई और हाजी साहब को सम्बोधन करके बोली—"आपसे मेरी एक आरजू है, मेरी कुछ रकम इस गठरी में है। जेवरात और नकदी सब मिला कर दस हजार से ऊपर का माल है। आप एक शरीफ बुजुर्ग मुसलमान हैं। आपकी और आपके खानदान की इज्जत बचाना मेरा फर्ज है। मैं एक रजील बाजारू औरत जरूर हूं—मगर अपने फर्ज से बेखबर नहीं। यह गठरी खुदा के सामने मैं आपको अमानत सौंपती हूं। अगर कभी जिन्दा लाहौर पहुंच गई तो ले लूंगी। वर्ना गठरी आपकी है। खुदाहाफिज।"

हाजी और बेगम दोनों ही बी हमीदन का यह त्याग और साहस देखकर सकते की हालत में रह गए। हाजी जी उसके कदमों में गिर कर कहने लगे—'बेटी, तूने हमारी इज्जत और जान बचा ली। तुझ पर आफरी।"

बेगम रोती-रोती उससे लिपट गई और बलैयां लेने लगीं।

हमीदन ने उनकी किसी बात पर कान नहीं दिया। वह ड्राइवर की ओर मुखातिब हुई और बोलीं—"लहनासिंह, तुम एक दयानतदार मर्द हो। देखो तुमने मेरा किराया खाया है और तुम देख रहे हो कि मैं एक फर्ज पूरा करने पर आमादा हूं। अब तुम्हारा यह फर्ज है कि सुबह यहां आकर देखो कि मैं जिन्दा हूं या नहीं और यदि जिन्दा हूं तो मुझे सही—सलामत लाहौर पहुंचा देना।"

लहना सिंह ने कहा—चाहे मेरी जान चली जाए—पर मैं तुम्हें कह देता हूं कि मैं सुबह जरूर आऊंगा।"

बी हमीदन धीरे-धीरे खून के प्यासे उन्मत्त आक्रान्ताओं के पास चली गई और मोटर तेजी से लाहौर की ओर रवाना हुई।

हाजी साहब की बीबी और बेटियों ने अब हमीदन को इस श्रद्धा-भरी निगाह से देखा, जैसे वह कोई देवदूत हो।

× × ×

एक ही सप्ताह में सब रंग बदल गया था। हाजी साहब तनजेब का कुर्ता पहने मसन्द पर पड़े पान कचर रहे थे। सिर पर बिजली का

पंखा सर्राटे-बन्द चल रहा था। खम्बरी तम्बाकू पेचवान में सुलग रहा था। जिसकी महक से कमरा बाग-बाग हो रहा था। नवाब मुईनुद्दीन साहब भी श्वसुर की अर्दली में एक आराम-कुर्सी पर पड़े सिगरेट के कश खींच रहे थे। दीन, ईमान और पाकिस्तान के छोटे-बड़े सब मस्लों पर बहस हो रही थी। हाजी साहब के चेहरे और रंग-ढंग से यह पता ही नहीं लगता था कि उन पर कोई भारी विपत्ति टूट चुकी है।

खिदमतगार ने पेचवान पर नई तम्बाखू चढ़ा कर अर्ज की कि एक औरत आप से मिलना चाहती है।

हाजी साहब चमक पड़े। उन्होंने कहा—"औरत ? कौन औरत कह दो मुलाकात नहीं होगी।"

परन्तु मुलाकात करने वाली औरत खिदमतगार के पीछे ही पीछे वहां तक चली आई थी। उसने हाजी साहब की बात सुन ली थी। उसने कहा—"अफसोस है हाजी साहब, मुझे आप से मुलाकात करना जरूरी हो गया। उस मुसीबत से बच कर आपको यहां खुशोखुर्रम देख कर निहायत खुशी हुई।"

"मगर बानू, तुम अपना मतलब तो कहो ?"

हाजी साहब नहीं चाहते थे कि नवाब के सामने यह बात खुले कि वह एक रजील बाजारू औरत है और उन्हें अपनी लड़कियों के साथ उसके पास बैठ कर यात्रा करनी पड़ी है।

बी हमीदन ने कहा—"हुजूर यह मैं जानती हूं कि आप जैसे रईसों के घर बिना बुलाए मेरे जैसी रजील बाजारू—"

"मगर खुदा के लिए अपना मतलब कहो मतलब !"

हमीदन ने भी दो-टूक कहा—"मतलब यह कि मेरी गठरी मुझे इनायत कीजिए।"

"गठरी ? कैसी गठरी ?"

"जो मैंने आपको सौंपी थी !"

"क्या तुम कोई पागल औरत हो बेगम ! कब कैसी गठरी ! भई, तुम जरूर किसी मुगालते में पड़ गई हो। किसी दूसरे आदमी को गठरी-उठरी दी होगी। मैं तो तुम्हें जानता भी नहीं। मेरा नाम हाजी—"

"आपका नाम मैं जानती हूं।"—हमीदन ने तेज में आकर कहा "गठरी मैंने खुदा को गवाह करके दी थी। अब आप नहीं देते तो न सही। मगर वह मेरी हराम की कमाई थी। मुझे इस बात की खुशी है कि जब आप उसे हज्म कर लेंगें तो आपके खून में हराम का नमक भर जाए। जाइए, जैसे मेरे मडुए-- मरासी मुझसे पाते-खाते हैं आप भी पा गए हैं तो खाइए। बन्दगी अर्ज !"



सुबह की कमजोरी

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा

घड़ी ने साढ़े छः बजे की एक टन बजाई। सुशीला ने चादर से मुंह बाहर निकाला श्रौर सोचा कि श्रब लेटे रहने से काम नहीं चलेगा। यों नींद तो उसे बहुत कम श्राती है—चार, पांच श्रौर छः के घण्टे उसने चारपाई पर करवटें बदलते ही सुने थे। किन्तु उठने के समय उसके तन मन पर एक थकान श्रौर सुस्ती सी छाई रहती है। डाक्टर का कहना है कि इसे 'सवेरे की कमजोरी' कहते हैं चार महीनों से वह दवा खा रही है, इन्जेक्शन भी लग रहे हैं, पर रोग है कि जाने का नाम नहीं लेता बस, रात-दिन देह व मन पर एक जड़ता-सी छाई रहती है। भूख भी कम लगती है श्रौर कोई काम करने में मन नहीं लगना। परन्तु गृहस्थी है, पति है, तीन बच्चे हैं—काम तो करना ही होता है।

सुशीला ने मुंह पर छितरा श्राई लटों को हाथ से पीछे किया, साड़ी का पल्ला ठीक किया श्रौर उठ बैठी। धीरे-धीरे घर के काम-काज प्रतिदिन की दिनचर्या के रूप में चलने लगे। नौकर छोकरे की सहायता लेकर घर-श्रांगन बुहारा गया, चूल्हा जला, नाश्ता बना। पति को चाय भेजी। साढ़े-नौ तक भोजन भी बन गया। पति के दफ्तर श्रौर बच्चों के स्कूल जाने के बाद वह श्रपना नहाना-धोना करेगी। तब यदि इच्छा हुई, तो दो रोटी खा लेगी। घर में काम ही, कौन श्रधिक है। दोनों बड़े लड़के स्कूल चले जाते हैं। बस, पांच वर्ष की चुन्नी ही घर की सफाई श्रौर निस्तब्धता को भंग करने के लिए रह जाती है। पति

मनोहरलाल अच्छे स्वस्थ पुरुष हैं। अवस्था होगी यही पैंतीस-छत्तीस की, पर देखने में इससे भी कम के ही जंचते हैं। पत्नी की बीमारी से वे भी परेशान हैं। पिछले साल जब सुशीला के पांचवीं मृत सन्तान ने जन्म लिया, तभी से वह बीमार हैं। ऐसी बीमारी तो नहीं कि चारपाई पर पड़ी रहे, या बुखार उतरता ही न हो; पर वह दिनों-दिन कमजोर होती जाती है, चिड़चिड़ी भी। दवा-इलाज में मनोहर बाबू कमी नहीं करते। फल-दूध, जो चाहे, मंगाए-खाए। तनख्वाह तो वे पूरी-की-पूरी पत्नी के हाथ पर रख देते हैं।

दफ्तर को चलने के लिये तैयार हो, मनोहर बाबू ने रसोईघर के द्वार पर खड़े हो, नित्य की भांति, प्रश्न किया—"आज तबीयत कैसी है ?"

"अच्छी ही है !"—सुशीला ने भी पुराना उत्तर दोहराया।

"देखो, दवा समय पर ले लिया करो। बीच-बीच में दवा छोड़ देती हो, तभी रोग नहीं जाता। और हां, डाक्टर ने कहा है कि प्रात: काल मील-आध मील टहल आया करो, तो जल्दी ही स्वास्थ्य संभल जाएगा।"

सुशीला ने तवे पर अन्तिम फुलका छोड़ते हुए आलस भाव से कहा—"हूं !"

पति ने तनिक खीझ से कहा—"तुम तो किसी बात पर ठीक-ठीक अमल ही नहीं करतीं। जरा सूरत तो देखो, कैसी होती जा रही है। कल से सबेरे टहलने अवश्य जाया करना।"

"लेकिन किसके साथ जाऊं ?" इस बार सुशीला ने मुंह ऊंचा किया—"तुम तो सात बजे से पहले उठते ही नहीं।"

किसके साथ ? यह तो मनोहर बाबू ने सोचा ही नहीं था। दो क्षण रुक कर बोले —"सुभाष को जगा लिया करो। उसका भी टहलना हो जाया करेगा। और, न हो, तुम अकेली ही जा सकती हो।···अच्छा तो चलू। शाम को कुछ देर से लौटूंगा। बाबू श्यामलाल के यहां चाय पार्टी है।" कहते-कहते मनोहर बाबू साइकिल पकड़ कर बाहर चल दिए।

सुशीला का मन न जाने क्यों, खीझ से भर गया। कुछ बात भी नहीं है। पोते ने कोई कड़ी बात नहीं कही—कभी भी नहीं कहते,

बल्कि जब से वह बीमार रहने लगी है, तब से तो वे सभी बातों में सतर्क रहने लगे। डाक्टर ने कहा है, अब दो-चार वर्ष सन्तान नहीं होनी चाहिए। और, सुशीला जानती है, इधर चार महीनों से मनोहर बाबू इस बारे में कितने सतर्क हैं। ऐसा भला पति दुनिया में किसे मिलता है। पति के प्रति मन में वह अत्यन्त कृतज्ञ है। परन्तु इस समय केवल इतनी ही बात पर उसका मन रोष से, खीझ से, भर उठा। कैसे सहज भाव से कह दिया—न हो, सैर करने अकेली ही चली जाया करो।' अकेली! ठीक है, मैं अब बूढ़ी हुई। नीली नसें उभरी हुई अपनी गोरी (या हल्दी-सी पीली) बाहों को देख कर उसने सोचा—"क्या बचा है अब मुझमें? एक पहरेदार साथ लगा कर वह क्या करेगी?" हां, फागुन से उनतीसवां शुरू हो गया। तीस के बाद तो औरत बूढ़ी हो ही जाती है—बूढ़ी! कब, किस प्रत्याशित क्षण में समय राक्षस ने उसका यौवन चुरा ही लिया। रसोई वैसी छोड़ कर वह कमरे में आ गई। वैसी ही सिलवटें-पड़ी मैली धोती पहने वह शृंगार मेज के सामने जा खड़ी हुई। नाक पर जगह-जगह कालिख लगी हुई थी। गाल पिचके, आंखें निस्तेज। तो वह बूढ़ी हो गई है! इसी से इन्हें मुझमें कोई आकर्षण नहीं प्रतीत होता। इन्हें क्या, शायद किसी के लिए भी कोई आकर्षण शेष नहीं रहा।

सुशीला को लगा, उसकी वह सवेरे की कमजोरी अब आज 'दोपहर की कमजोरी' भी बन गई है। माथा थाम कर वह वहीं चटाई पर लेट गई। लेटे-लेटे सोचा—अभी चार-पांच साल पहले तक वह जब भी गली-बाजार में निकल जाती थी, हमेशा इसी बात का खटका लगा रहता था कि कहीं कोई बोली-ठोली न मार दे। भीड़ में जान-बूझ कर धक्का न दे दे। 'मुए, तेरे मां-बहन नहीं है' की गाली तो सुशीला ने न जाने कितनों को, कितनी बार दी है। कैसी मुसीबत थी उन दिनों, पर इधर तो याद नहीं आता, कब से, कितने दिनों से, उसने यह सब नहीं सुना। न जाने क्यों सुशीला का मन हुआ कि काश, वे दिन फिर लौट आते। उसे अपने मोहल्ले के गणेश की गाई पंक्ति याद हो आई, जिसे यह उसे अकेली पाकर गा उठता था—"जानी, जोबना पे इतना न इतराया करो—ओ!" कितना क्रोध आता था उसे गणेश पर। जी

होता था, कि मरे का मुंह झुलस दे। और, मुंह न झुलस पाने की असमर्थता को वह अपने गले के आंचल से अपने को दाब-ढंक कर सिर नीचा करके, कतरा कर निकल जाने में पूरा करती थी। साथ ही, छोटे की याद भी आ गई। वह तो उसे देखते ही 'हाय री पटाखा!' कह कर छाती पर हाथ रख लेता था। वह उसे देखते ही झट से किवाड़ बन्द कर लेती थी। आज उन पुरानी स्मृतियों की रेखाएं उभर आईं, तो सुशीला सोचने लगी—'क्यों मुझे उस पर इतना क्रोध आता था? उन बेचारों का कुसूर ही क्या था?" उस समय की वह गहराई, कच्ची लम्बी-सी भरी-भरी देह, गोल-मांसल कलाइयां और फूली-फूली खूब लाल सिकी कचौरी से गाल—ओंठ मानो पके हुए करौंदे हों। क्या जवानी चढ़ी थी उसे भी! बोली-ठोली मारने वालों को ही क्या दोष दिया जाए! खैर, अब तो इधर मुद्दतों से मुसीबत दूर हो गई। उसने माथे पर बल देकर सोचा— 'अब इधर तो कभी किसी ने इतना भी नहीं कहा कि चलिए देवी जी, मैं पहुंचा दूं?" कमजोरी बढ़ती जा रही थी। सुशीला भूखी-प्यासी वहीं चटाई पर सो गई।

× × ×

दो बार सुभाष को जगाया, पर कुनकुना कर वह फिर सो गया। सुशीला का जी हुआ न जाए। इतनी दवा खाती है इन्जेक्शन भी लिए हैं, पर जब खून बनता ही नहीं, कमजोरी दूर ही नहीं होती, तो सवेरे की सैर में क्या अमृत घुला है? पर पति उठ कर दुखी होंगे, कहेंगे —"पानी की तरह पैसा इलाज में जा रहा है। परन्तु डाक्टर की बात नहीं मानतीं। सुबह की सैर को नहीं जातीं, तो आराम कैसे आए?" द्वार से झांका, आकाश में अभी तारे अपने मन्द पड़ते प्रकाश मे धरती को निहार रहे थे उदास, फीका पड़ता चांद भी एक कोने में दुबका हुआ था। पूरब की ओर का आकाश कुछ-कुछ सफेद हो चला था। सवेरा होने में आध घण्टे की देर थी। दिन चढ़ जाने से एक तो सड़कों पर भीड़ बढ़ जाती है और फिर घर का काम किस समय होगा।

दवा के कड़वे घूंट की भाँति सुशीला ने इस बीस मिनट की सैर को भी निगल जाना ही उचित समझा। पैरों में चप्पल डालीं और द्वार धीरे से बन्द कर बाहर आ गई। हवा में ताजगी थी। परन्तु यों अकेले पागलों की

भांति सड़कों पर घूमना उसे तनिक भी नहीं रुचा। इक्के-दुक्के सैर के शौकीन बूढ़े बेंत हिलाते इधर-उधर ग्रा-जा रहे थे। पड़ोसी के कैंटीन का छोकरा ग्रंगीठी में कोयले सुलगा रहा था। सुशीला ने जल्दी-जल्दी सड़क पार की ग्रौर उजाले की फूटती हलकी रेखाग्रों में वह युक्लिप्टस रोड पर ग्रा गई। सैर करने को यह सड़क बहुत ग्रच्छी है। पक्की, साफ-सुथरी, दोनों ग्रोर ऊंचे-ऊंचे युक्लिप्टस के पेड़, दूर-दूर बसे दो-चार कोठी-बंगले। परन्तु ग्रकेले चलते उसे न जाने कैसा लग रहा था। यह गम नहीं था कि इस सवेरे के झुटपुटे में कोई उसके पीछे लग कर घर तक पीछा करेगा, या चलते हुए जान-बूझ कर कोहनी मार जाएगा। क्या देखकर किसी के मन में यह सुरूर उभरेगा? फिर भी भय मुक्त शंका रहित सुशीला बड़ी मजबूरी से यह सैर का घूंट निगल रही थी। सड़क खत्म हो गई ग्रौर चौराहा ग्राया। वह लौट पड़ी। शहर की गुंजान सड़कों पर जाने से क्या लाभ? छः बजे वह घर ग्रा गई। ग्रभी कोई नहीं जागा था। द्वार उसी प्रकार उढ़के हुए थे। प्रातःकालीन वायु ने उसके मस्तिष्क में जरा सी स्फूर्ति ग्रवश्य दी थी। परन्तु उस स्फूर्ति की ग्रपेक्षा उसके पांवों की थकन ग्रधिक थी। बड़ी कमजोरी लग रही थी। वह चुपचाप मुन्नी के खटोले के पांयते लुढ़क गई। ग्राहट से मनोहरलाल की ग्रांख खुली। ग्रंगड़ाई ले, सुस्ती दूर करते हुए, उन्होंने पूछा—"सैर कर ग्राईं?"

पत्नी ने सिर हिला कर हामी भर दी।

"कैसा लगा?" पर सुशीला कुछ नहीं बोली। मनोहर उसी रौ में कहते गए—"ग्रब बिला नागा जाया करना। देख लेना, फायदा जरूर होगा।" ग्रौर, पत्नी को निढाल पड़ी देख इतना ग्रौर जोड़ दिया—"भई, ग्रकेले न जा सको, तो मुझे जगा लिया करना। इस बहाने मेरा भी घूमना हो जाया करेगा।"

तीन-चार दिन निकल गए। सुशीला ग्रकेली ही सैर को निकल जाती। एक-ग्राध बार मनोहर को जगाने की इच्छा हुई भी, तो यह सोच कर रह जाती, कि रात देर तक जाग कर दफ्तर का काम करते हैं, फिर गरमी ग्रौर मच्छरों से परेशान रहते हैं—सवेरे की ठंडक में

सोए हुए हैं, तो अब मुंह-अंधेरे क्या उठाऊं ? सड़क पर शेर-भालू थोड़े ही होते हैं, जो मुझे खा जाएंगे ? और मेरी इस सैर से कोई फायदा भी तो दिखता नहीं। दस-पांच दिन देखती हूं, फिर बन्द कर दूंगी। वह अपनी उभरी नीली नसों वाली पतली बाहों को ताकती और फिर चप्पल घसीटती निकल पड़ती।

× × ×

आज बड़ी गरमी थी। रात करवटें बदलते ही बीती थी। सैर के लिए सुशीला उठी, तो सिर भारी हो रहा था। सोचा, लाओ, थोड़ा यू-डी-कोलोन ही मलूं। दूसरे कमरे में जा बिजली जलाई। शृंगार-मेज पर रखी शीशी उठाने लगी, तो उसमें लगे दर्पण में दिखा धोती सिर पर से फटी है। वैसे तो अभी अंधेरा ही था, कौन देखता है ? परन्तु लौटने तक उजाला हो जाता है। कहीं कोई इनका परिचित ही मिल गया, तो सोचेगा—हैडक्लर्क की पत्नी है, फटी धोती पहने है। अलगनी पर टंगी रंगीन वाइल की साड़ी उतार कर पहनने लगी, तो ब्लाउज पर दृष्टि गई। लाओ, इसे भी बदल लूं—इस साड़ी के साथ मैला दिखाई पड़ता है। और फिर, कन्घे से जरा बाल भी संवारे। मुंह पर तनिक-सी क्रीम भी मली, बिन्दी भी लगाई और बिन्दी का गीलापन जो उंगलियों में लग गया था, होंठों पर रगड़ लिया। शीशे में देखा, पीला-सूखा चेहरा जरा निखर आया था। अपने आपको ही कुछ अच्छा-अच्छा लगा। अब इन कपड़ों पर पुरानी चप्पलें क्या पहनें। सैण्डल निकाले और पहन कर बाहर आ गई। हवा लगी तो यू-डी-कोलोन से मिल कर माथे का दर्द उड़-सा गया। सूनी सड़क पर चलते चलते शीशे में देखे (बिन्दी के लाल) अपने ही होंठ उभर आए। कभी उसके होंठ असल में भी वैसे ही थे, तभी तो······तभी तो·········!

कान के पास कोई साइकिलवाला घण्टी बजाता झट से निकल गया, तो सुशीला सजग हुई। उसे अपने पर ही हंसी आ गई। आज वह किस धुन में इस सड़क पर निकल आई थी। खैर, आज इधर ही सही। यह नगर का राजमार्ग नहीं था। छोटी बस्ती की लम्बी-पतली

सड़क थी। दोनों ओर टीन से छाई या ईंटों से बनी छोटी दुकानें, सस्ते ढाबे थे। सड़क के किनारे चारपाइयां बिछाए कितने ही व्यक्ति सो रहे थे। दुकानों के चबूतरों पर भी कुछ बच्चे नौकर लुढ़के पड़े थे। एक-दो पक्की हवेलियां भी बीमार जिस्म पर खूबसूरत गहनों की तरह सिर उठाए खड़ी थीं। इक्का-दुक्का व्यक्ति कभी सड़क पर से गुजर भी जाता था। सुशीला सड़क पूरी कर मुड़ने लगी, तो जैसे उसे अपने कानों पर विश्वास न आया। कोई कह रहा था—"मेरी जान! सवेरे सवेरे?" सुशीला सिहर गई। देह का ठंडा पड़ा रक्त तेजी से दौड़ पड़ा। उसने अकचका कर इधर-उधर ताका। सामने जिस छोटी दुकान पर हिमालय टेलरिंग हाउस' का धुंधला बोर्ड लगा था, उसी के चबूतरे पर धारीदार पायजामा और नोले चैक की कमीज पहने कोई व्यक्ति खड़ा दातून कर रहा था। अच्छा गोरा-चिट्टा लम्बा-चौड़ा, तीस-बत्तीस की आयु का होगा। सुशीला को उधर ताकते पाकर उसने कहा—"हाय री जालिम, निगाहें!"

और सुशीला आगे बिना कुछ सुने घर की ओर उल्टे पांवों भागी! भागती ही गई! उसकी सांस फूल रही थी। मन में सोच रही थी, कोई मुझे देखकर क्या कहेगा? परन्तु अपने द्वार पर आकर ही उसके पांव रुके। भीतर गई। सभी सो रहे थे। वह सीधी दूसरे कमरे में गई और शृंगार-मेज के पास बिछी चटाई पर धप् से बैठ गई। ना बाबा, आज से वह कभी अकेली सैर को नहीं जाएगी। देखो तो मुए को। मैं भी क्या कल की लड़की हूं, जो आवाजें कसने लगा। वह वहीं लेट गई, पर आज दौड़ कर आने पर भी उसे कमजोरी नहीं लग रही थी। कोई उसके मन में कह रहा था—अभी भी उसे एक पहरेदार की जरूरत है! वह बूढ़ी नहीं हुई है! फुर्ती से उठकर वह शृंगार-मेज के दर्पण के सामने खड़ी हो गई। देखा, आज उसके गाल कुछ अधिक लाल हैं। आंखें अधिक चमकीली हैं। होंठों में ताजगी है। बस, सिर्फ यह देह दुबली है। उंह! वह वहां से हट आई! जरा तन्दुरुस्त हो जाऊं, तो देह भी भर जाएगी।

प्रतिदिन की भांति आज सुशीला को 'सुबह की कमजोरी' महसूस नहीं हो रही थी। रात की उलझी लटों को खोल, कंघा फेरती हुई,

वह किसी पुराने रसगीत की कड़ी गुनगुनाती आंगन में टहलने लगी।

कल से वह उन्हें साथ लेकर सैर करने जाया करेगी। न बाबा, ये मुए!

सुशीला अब जल्दी-जल्दी स्वस्थ हो रही है। वह अभी तक युवती है और अभी काफी समय तक युवती बने रहने का उसने निश्चय कर लिया है।



पुलाव और सरदी !

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

डाक्टर सक्सेना पागलखाने के बड़े डाक्टर के कमरे के सामने पहुंच कर कुछ रुके ही थे कि चपरासी एक चिट और पेन्सिल उनके सामने ले आया। परन्तु उसकी नितान्त उपेक्षा कर डाक्टर सक्सेना चिक उठा कर एकाएक अपने पुराने मित्र के कमरे के भीतर पहुंच गए और बोले—"कहो, क्या हाल है, मित्र रामपाल ?"

डाक्टर रामपाल सहसा चौंक कर खड़े हो गए। आश्चर्ययुक्त आनन्द के साथ उन्होंने कहा—"अरे यार, तुम हो—सक्सेना ? इतने बरसों के बाद इस तरह बिना किसी पूर्व सूचना के तुम से कभी यों भेंट हो जाएगी, इसकी मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था।"

डाक्टर सक्सेना ने हंसते-हंसते कहा—"बात यह है दोस्त, कि पागलखानों के डाक्टर आम तौर से खुद भी पागल बन जाते हैं। पूरे नहीं, तो आधे ही सही। फिर, तुम तो भाई, 27 बरसों से पागलखानों के 'बड़े' डाक्टर हो। सो मैं यह देखने आया था कि तुम्हारे पूरी तरह पागल बन जाने में अब कितनी कसर बाकी है ! इस काम के लिए भला मैं पूर्व सूचना किस तरह भेजता ?"—डाक्टर सक्सेना की हंसी इतनी अधिक बढ़ गई थी कि उनकी बात समझना भी कठिन बनता जा रहा था।

मगर डाक्टर रामपाल ने बड़ी गम्भीरता से इतना ही कहा—"मालूम है, इतना अचानक तुम्हें यहां देखकर मैंने क्या समझा था ?"

"क्या ?"

"आज सुबह-सुबह यह कौन नया पागल यहां भरती होने के लिए लाया गया है, जिसकी शक्ल और आवाज, दोनों मेरे मित्र सक्सेना से इतना अधिक मिलती है।"

खूब खुल कर हँस लेने के बाद दोनों मनोवैज्ञानिक मित्र कामकाज की बातें करने लगे। डाक्टर सक्सेना देश के ख्याति प्राप्त मनोवैज्ञानिकों में हैं और नए अनुसन्धान के लिए देश के बड़े-बड़े पागलखानों का दौरा कर रहे हैं। डाक्टर रामपाल उनके सहपाठी रहे हैं और दोनों की मित्रता बहुत पुरानी है।

डाक्टर रामपाल के कमरे के सामने मखमली घास से मढ़ा हुआ खुला सहन है, जिसके चारों ओर रंग-बिरंगे गुलाब महक रहे हैं। इस मैदान में दो आराम कुर्सियां डलवा कर दोनों मित्र जम कर बैठ गए। जनवरी का महीना था और आकाश-भर में एक हल्की-सी धुन्ध छाई हुई थी। 11 बज जाने पर भी धूप में गरमी का नाम तक नहीं था। दूर पर पागलखाने का बड़ा फाटक था, जहां बीसों मानसिक बीमार सींकचों के पीछे से अपने रिश्तेदारों से मिल रहे थे। वहां हास्य तथा रुदन-मिश्रित विविध स्वरों का जो ऊंचा कोलाहल हो रहा था, वह इन दोनों मनोवैज्ञानिकों के विचार-विनिमय के लिए जैसे बहुत ही उपयुक्त पृष्ठभूमि उपस्थित कर रहा था।

डाक्टर सक्सेना ने अपने दोस्त से पूछा—"कुछ पढ़ते-लिखते भी रहते हो, मित्र ?"

रामपाल ने कहा—"पढ़ने-लिखने की फुरसत ही किसे मिलती है!"

डाक्टर सक्सेना ने रूस, अमेरिका, इंग्लैंड और फ्रांस के जगत-प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिकों की नई किताबों के सम्बन्ध में पूछा, तो मालूम हुआ कि डाक्टर रामपाल का उन नामों से परिचय तो जरूर है, मगर उन्होंने उनमें से किसी एक की भी कोई नई किताब नहीं पढ़ी। इस पर डाक्टर सक्सेना ने संसार के मनोविज्ञान-सम्बन्धी प्रसिद्ध पत्रों के कतिपय महत्वपूर्ण लेखों का जिक्र किया। ये लेख डाक्टर रामपाल की निगाह से ज़रूर गुजरे थे, परन्तु पढ़ने की फुरसत उन्हें इन लेखों के

लिए भी न मिल पाई। डाक्टर सक्सेना ने कहा—"दोस्त, आखिर तुम पूरी तरह मुफस्सिल के आदमी ही बन कर रहे न ! याद है, मैं कहा करता था कि रामपाल 'जीनियस' तो जरूर है, मगर है बस, कुएं का मेढ़क ही !"

सक्सेना की इस बात की हँसी में रामपाल ने दिल खोल कर सहयोग दिया और जैसे सफ़ाई के तौर पर कहा—"गीता में लिखा है न, कि चारों तरफ़, मीलों तक मधुर, स्वच्छ और शीतल पानी भरा रहने पर भी एक समझदार मनुष्य के लिए उतना ही पानी काम का है, जितना वह पी सकता है ! सो, भाई सक्सेना, मैं भगवान कृष्ण के इसी सिद्धान्त का कायल हूं।"

डाक्टर सक्सेना ने गम्भीर होकर कहा—"देखो रामपाल, अब तुम बूढ़े होने पर आ गए। नहीं तो, मैं तुमसे कहता कि चाहे और जिस 'विज्ञान' पर दृष्टि फेरो, इस बेचारे 'मनोविज्ञान' को छोड़ दो !"

"मनोविज्ञान इतना बेचारा कब से बन गया मित्र ?

"जब से तुम्हारे जैसे उपासक उसे मिले। खैर, मज़ाक की बात छोड़ो। यदि कहीं आज मैं फिर से अपने जीवन का प्रारम्भ कर सकूं, तो मैं मनोविज्ञान की अपेक्षा जीव-विज्ञान को अपना विषय चुनूंगा।"

डाक्टर रामपाल भी अब सचमुच गम्भीर हो गए और उन्होंने उत्सुकता से पूछा—"वह क्यों ?"

"वह इसलिए कि जिन तत्वों को हम 'मनोजगत' के स्तर का मानते हैं, वे तत्व भी बाद में भौतिक जगत के तत्व सिद्ध हो जाते हैं। सच बात तो यह है, कि मनुष्य के आध्यात्मिक व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अभी तक हमारी जानकारी इतनी कम है, जितनी कि प्रागैतिहासिक काल में भौतिक विज्ञान के सम्बन्ध में थी—जब मनुष्य आग को संसार का सबसे बड़ा चमत्कार समझा करता था।"

"पर इस परिस्थिति से हम निराश क्यों हों, सक्सेना ?"

"इसलिए कि मनोविज्ञान को साधक भी मिले हैं, तो तुम्हारे जैसे !"

"यह लेक्चरबाजी छोड़ो, सक्सेना। यह बताओ कि मनुष्य के आध्यात्मिक व्यक्तित्व से तुम्हारा अभिप्राय क्या है ?"

"मनुष्य के भौतिक शरीर के अतिरिक्त उसका जो-कुछ भी अस्तित्व है; मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—यहां तक कि आत्मा भी—उन सबको मैं मनुष्य का आध्यात्मिक व्यक्तित्व कह रहा हूं। मगर मुश्किल तो यह है, कि उन सबमें से कुछ भी तो पकड़ में नहीं आता। जो पकड़ में आता है, वह सब देर या सवेर उसी तरह भौतिक सिद्ध हो जाता है, जिस तरह मैलंकोलिया स्नायवीय श्रेणी की एक बीमारी सिद्ध हो गई।"

मगर डाक्टर रामपाल जैसे अब सक्सेना की बात ही न सुन रहे थे। डाक्टर सक्सेना की चाल कारगर हो गई थी और वह अपनी पैनी बातों से रामपाल को ठीक मूड में ले आए थे।

दो-चार क्षण दोनों मित्र चुप-चाप बैठे रहे। इस चुप्पी को पागलखाने के दरवाज़े से आने वाला हास्य-मिश्रित आर्तनाद और भी अधिक तीव्र बना रहा था। उसके बाद डाक्टर रामपाल ने धीरे-धीरे कहना शुरू किया–"मनुष्य के आध्यात्मिक व्यक्तित्व की चिन्ता मुझे नहीं है, सक्सेना ! वह तो लम्बी साधना का क्षेत्र है। मुझे तो कभी-कभी यह देख कर बहुत बड़ा विस्मय होता है कि एक ही मनुष्य के भीतर समान शक्ति के दो परस्पर-विरोधी व्यक्तितत्व किस प्रकार छिपे रहते हैं !"

डाक्टर सक्सेना ने बड़ी उत्सुकता से कहा—"केस-हिस्ट्री, रामपाल ! केस-हिस्ट्री !"

"अच्छा, तो केस-हिस्ट्री ही सुनो।" और, डाक्टर रामपाल ने कहना शुरू किया—"लगभग 5 वर्ष हुए, एक दिन प्रातःकाल एक नए पागल को मेरे पास लाया गया। एक अच्छा-भला नौजवान 'पुलाव गरमा-गरम ! मटर-पुलाव गरमागरम !' की पुकार लगाते-लगाते मेरी तरफ आ रहा था और उसके साथ गमगीन-सी शक्ल में दो-चार स्त्री-पुरुष थे। वह नौजवान कुछ ऐसे अंदाज से 'गरम-पुलाव' की पुकार लगाता था कि यह समझना कठिन था कि वह 'मटर-पुलाव' कह रहा है या 'मटन पुलाव'; मगर मिनट-भर में सम्पूर्ण पागलखाने का ध्यान उस नौजवान ने अपनी ओर जरूर खींच लिया।

"मालूम हुआ कि उस नौजवान का नाम प्यारेलाल है—उम्र 27 वर्ष, शरीर और ढांचा मध्यम। निम्न मध्यम श्रेणी का वह युवक किसी दफ्तर में क्लर्क था। उसकी पत्नी उसकी अपेक्षा कहीं अधिक रोबीली थी और घर में उसी का हुक्म चलता था। प्यारेलाल को पुलाव बहुत पसन्द थे और अपनी पत्नी से वह सदा पुलाव बनाने की मांग किया करता था। पर उसकी पत्नी का कहना था कि अच्छा चावल अब बहुत महंगा है और पुलाव बनाने में घी को पानी की तरह बहाना पड़ता है नतीजा यह था कि प्यारेलाल को पुलाव नसीब नहीं होते थे।

"उस प्रभात से एक दिन पहले भी प्यारेलाल सदा की तरह सुबह भोजन कर दफ्तर चला गया था। दफ्तर से वह सदा सांझ को घर वापस आया करता था। पर उस रोज उसके दफ्तर में एकाएक छुट्टी हो गई और वह दोपहर के डेढ़ बजे ही घर वापस आ पहुंचा। उसका खयाल था कि उसकी पत्नी या तो कहीं पड़ोस में गई हुई होगी, या सो रही होगी। पर यह देख कर प्यारे लाल के आश्चर्य की सीमा न रही कि उसका घर स्वादिष्ट पुलाव की सोंधी-सोंधी सुगन्ध से महक रहा है और घर के आंगन में उसकी पत्नी और उसके तीन साले एक साथ भोजन कर रहे हैं। चारों के सामने के थाल गरमागरम पुलाव से भरे हुए हैं और साथ ही खाली देगची पड़ी है। यह कल्पनातीत दृश्य देख कर प्यारेलाल ने जो हँसना शुरू किया, तो हँसता ही चला गया। जब तक प्यारेलाल की हँसी रुकी, तब तक वह पत्नी-भीत, हीन-मध्य श्रेणी के क्लर्क से, ऊंची आवाज में गरमागरम पुलाव बेचने वाला एक पागल बन चुका था।

"पहले ही दिन से प्यारे लाल पागलखाने की इस बस्ती में 'पुलाव वाले' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। मैंने उसका अध्ययन किया। एकदम साधारण कोटि का व्यक्तित्व था उस आदमी का। अपनी पत्नी से वह जितना डरता था, उतना ही वह अन्तर्मन से उससे घृणा करता था। प्यारेलाल को पहले भी सन्देह था कि उसकी पत्नी उसकी कमाई पर अपने रिश्तेदारों को पालती है—पुलाव घटना से वह सन्देह गहरे विश्वास के रूप में बदल गया।

"यों प्यारेलाल के व्यक्तित्व में अब भी किसी तरह की तीव्रता समाविष्ट नहीं हुई थी। वह हर समय हँसता रहता और गरमागरम पुलाव के नारे लगाता रहता। केवल अपनी पत्नी का नाम सुनते ही वह गम्भीर हो जाता। शुरू-शुरू में मैंने उसकी पत्नी को उससे मिलने नहीं दिया, क्योंकि वह स्वयं उससे मिलने को राजी न होता था। बाद में वह उससे मिलने को तैयार हो गया, पर जब उसकी पत्नी उससे मिलने आई, तो वह उस पर बुरी तरह गरजा। दो-एक सिपाहियों की सुरक्षा में, मेरी सलाह से वह औरत चुपचाप अपने पति की गरज सुनती रही।

"प्यारेलाल का इलाज करने में तो मुझे अधिक समय नहीं लगा, परन्तु उसे फिर से पत्नी के साथ घर बना कर रहने को तैयार करने में मुझे पूरे तीन साल लग गए। तीन साल के बाद यह जान कर मुझे सन्तोष हुआ कि प्यारेलाल अपनी पत्नी के साथ एक साधारण गृहस्थ का-सा जीवन बिता रहा है। प्यारेलाल की नौकरी तो जाती रही थी, इससे घर पर ही उसने नून-तेल-लकड़ी की एक छोटी-सी दुकान खोल ली थी। इस दुकान को चलाने में उसकी पत्नी भी उसे भरसक सहायता दे रही थी। दोनों तंगी में थे, पर जिस किसी तरह उनका जीवन निर्वाह हो ही रहा था।"

इतना कह कर डाक्टर रामपाल चुप हो गए। डाक्टर सक्सेना भी चुपचाप बैठे अपने मित्र की ओर देखते रहे। दो मिनट की चुप्पी के बाद डाक्टर रामपाल ने फिर से कहना शुरू कर दिया—

'आज से सिर्फ 25 दिन पहले की बात है। उस दिन भी सरदी बहुत अधिक थी। रात-भर पानी बरसता रहा था और सूर्योदय से पहले आकाश एकाएक स्वच्छ हो गया था। उस कड़ाके की सरदी में रजाई छोड़कर बाहर निकलने को जी न करता था। तभी एकाएक अपने मकान के सहन से किसी व्यक्ति के जोर-जोर से रोने का अत्यन्त करुण स्वर मुझे सुनाई दिया। यह अस्पताल है—मानसिक रोगों का ही सही। यहां मृत्यु का परिचय तो सम्पूर्ण बस्ती को है। पर उस रोदन में कुछ ऐसी द्रावकता थी कि सुनने वाला पसीज कर ही रहे।

'शीघ्रता से लवादा ओढ़ कर मैं सहन के बरामदे में निकल आया, तो देखा—वही पुलाव वाला प्यारेलाल ! साथ के लोगों ने बताया कि वह कल सांझ से रो रहा है—उस समय से, जबकि उसकी पत्नी की चिता को लगाई गई आग एकाएक भड़क उठी थी। तब से अब तक वह लगातार इसी-तरह जार-ज़ार रो रहा है। थक कर बीच में कुछ देर के लिए सो जरूर गया था। पर जाग्रत दशा में क्षण भर के लिए भी वह चुप नहीं हुआ। यह तो पूरी तरह स्पष्ट था कि प्यारेलाल फिर से पागल बन गया है।

'प्यारेलाल की इस बार की कहानी सचमुच बहुत करुण थी। जांच पड़ताल से मालूम हुआ कि वह बड़ी गरीबी से अपना जीवन-निर्वाह कर रहा था। पर उसके आचरण से किसी को कोई शिकायत नहीं थी। अब वह पहले की अपेक्षा कहीं अधिक शान्त और भला-मानस माना जाता था। उसकी पत्नी का स्वभाव भी बदल गया था। प्यारेलाल की बीमारी के दिनों में उसके भाई-बन्दों ने उसका साथ नहीं दिया था। इस लम्बी कष्ट-परीक्षा में वह बेचारी प्यारेलाल से भी अधिक कमजोर हो गई थी। प्यारेलाल को तो फिर भी पागलखाने से अच्छा-खासा भोजन मिलता रहता था, पर उसकी पत्नी लगातार बहुत तंगी और अभाव में रही थी।

'नवम्बर के अन्त में प्यारेलाल की पत्नी एक बच्चे की मां बनी। मां और बच्चा, दोनों बहुत कमजोर थे। प्यारेलाल में अपनी पत्नी को पूरा भोजन देने की भी सामर्थ्य नहीं थी, वह उसका इलाज कहां से करवाता ? उसकी पत्नी अपने नवजात शिशु को यथेष्ट दूध भी न दे पाई। सप्ताह-भर के भीतर ही शिशु का देहान्त हो गया।

'अपने भीतर की कमजोरी और बीमारी, अपर्याप्त भोजन और उस पर सन्तान-वियोग की जलन। प्यारेलाल की पत्नी की दशा बहुत दयनीय हो गई। गरीब प्यारेलाल से जो-कुछ बन पड़ता, वह करता रहा। मगर सच बात तो यह है कि आज की दुनिया में जो-कुछ करता है, वह रुपया करता है—इनसान कुछ नहीं करता। इसलिए प्यारेलाल चाहते हुए भी कुछ नहीं कर सकता था।

'फिर इस साल सरदी भी तो बहुत पड़ रही है, सक्सेना । एक तो यह सरदी गरीबी में सताती है दूसरी बीमारी में। और प्यारेलाल की पत्नी गरीब और बीमार, दोनों ही थी। घर की पुरानी चटाई, चीथड़ानुमा कम्बल, लोगड़नुमा रजाई, सब उसने अपनी घरवाली को दे दिए। फिर भी, वह बेचारी सरदी में दांत बजाती रहती थी। जब कभी प्यारेलाल उसका हाल पूछता, वह बड़ी करुणा से कहती—'सरदी! सरदी !! मुझे सरदी लग रही है !!!'

"और, 23 दिसम्बर के प्रातःकाल, जिस दिन सूर्य उत्तरायण होना आरम्भ करता है, जिस दिन भीष्म पितामह ने स्वेच्छापूर्वक पुराने चीथड़ों के समान अपने शरीर का विसर्जन किया था, उस दिन शायद कड़कड़ाते जाड़े के कारण ही प्यारेलाल की पत्नी का देहान्त हो गया। वह बेचारी सरदी से इतना सिकुड़ गई थी कि उसकी देह को सीधा भी नहीं किया जा सका। उस दिन सरदी और भी अधिक थी। बीच-बीच में बूंदा-बांदी भी हो रही थी। गिने-चुने पांच-सात पड़ोसी उसकी देह को स्मशान में ले गए।

'पत्नी के देहान्त के बाद भी सभी आवश्यक कार्य प्यारेलाल पूरे होश-हवास में करता रहा था। पत्नी के शव को उसी ने नहलाया, उसी ने उसके कपड़े बदले और उसी ने सधवा की मांग में सिन्दूर भरा। लोगों के मना करने पर भी सारी रात प्यारेलाल अपनी पत्नी की अन्तिम यात्रा में लगातार कन्धा दिए रहा। चिता को अग्नि भी उसी ने दी।

'पर चिता जलने के साथ ही, प्यारेलाल अपना मानसिक सन्तुलन एकाएक खो बैठा। बात यह हुई कि प्यारेलाल ने ज्यों ही चिता को आग दी, चिता का फूंस तीव्रता से सुलग उठा। इस जलते फूंस में से प्यारेलाल की पत्नी का शरीर स्पष्टतः दिखाई दे रहा था। आग की गरमी और दोनों ओर की लकड़ियों के बोझ से शव में एकाएक गति दिखाई दी, जैसे प्यारेलाल की पत्नी सरदी की जकड़ से छुटकारा पा कर मजे में अपने पांव पसार रही हो। प्यारेलाल पास ही खड़ा था। उसका कहना था कि उसने खुद अपनी आंखों से अपनी पत्नी को मुसकराते देखा है, अपने कानों से उसकी पुकार सुनी है!

"यह सब काम एक क्षण में हुआ और एकाएक प्यारेलाल चीख उठा—'बचाओ ! बचाओ ! मेरी घर वाली को बचाओ ! वह सरदी से बचना चाहती थी, आग से जलना नहीं !' प्यारेलाल चीखा-चिल्लाया, चिता की आग बुझाने को वह आगे भी बढ़ा। मगर साथ के लोगों ने उसे कुछ भी न करने दिया। देखते-ही-देखते चिता धधक कर जलने लगी और उधर प्यारेलाल जोर-जोर से रोने लगा। उसकी आंखों से देखी मुसकराहट और कानों से सुनी पुकार पर किसी ने विश्वास ही नहीं किया।

"बड़ी कठिनाई से मैं प्यारेलाल को चुप करा पाया। परन्तु आज भी उसका पूर्ण विश्वास है कि सरदी की लम्बी जकड़ से छुटकारा पाकर चिता में उसकी पत्नी ने अंगड़ाई जरूर ली थी, होश में आकर वह स्पष्टत: मुसकराई थी और साफ आवाज में उसने प्यारेलाल को पुकारा भी था। अब प्यारेलाल अधिक नहीं बोलता, फिर भी कभी-कभी कराहपूर्ण स्वर में एकाएक चिल्ला उठता है—'सरदी ! सरदी !! जैसे, वह कोई दु:स्वप्न देख रहा हो !

"सबसे अजीब बात यह है कि पुलाव-सम्बन्धी एक भी बात अब उसे याद नहीं है। उसकी समझ में तो यह भी नहीं आता कि लोग उसे 'पुलाव वाला' कह कर क्यों बुलाते हैं।"



वह क्षण

जैनेन्द्र कुमार

"पैसा पात्र-कुपात्र नहीं देखता। क्या यह सच है?"

राजीव ने यह पूछा। वह आदर्शवादी था और एम० ए० और लॉ करने के बाद अब आगे बढ़ना चाहता था। आगे बढ़ने का मतलब उसके मन में यह नहीं था कि वह घर के काम-काज को हाथ में लेगा। घर पर कपड़े का काम था। उसके पिता, जो खुद पढ़े-लिखे थे, सोचते थे कि राजीव सब संभाल लेगा और उन्हें अवकाश मिलेगा। घर के धंधे पीटने में ही उमर गई है। चौथापन आ चला हैं और अब वह यह देख कर व्यग्र हैं कि आगे के लिए उन्होंने कुछ नहीं किया है। इस लोक से एक दिन चल देना है, यह उन्हें अब बार-बार याद आता है। लेकिन उस यात्रा की क्या तैयारी है? सोचते हैं और उन्हें बड़ी उलझन मालूम होती है। लेकिन जिस पर आस बांधी थी वह राजीव अपनी धुन का लड़का है। जैसे उसे परिवार से लेना-देना ही नहीं। ऊंचे खयालों में रहता है, जैसे महल खयाल से बन जाते हों।

राजीव के प्रश्न पर उन्हें अच्छा नहीं मालूम हुआ। जैसे प्रश्न में उनकी आलोचना हो। बोले—"नहीं, धन सुपात्र में ही आता है। अपात्र पर आता नहीं, आए तो वहां ठहरता नहीं। राजीव, तुम करना क्या चाहते हो?"

राजीव ने कहा—"आपके पास धन है। सच कहिए, आप प्रसन्न हैं?"

पिता ने तनिक चुप रह कर कहा—"धन के बिना प्रसन्नता आ जाती है, ऐसा तुम सोचते हो तो गलत सोचते हो। तुममें लगन है।

सृजन की चाह है। कुछ तुम कर जाना चाहते हो। क्या इसीलिए नहीं कि अपने अस्तित्व की तरफ से पहले निश्चित हो। घर है, ठौर-ठिकाना है। जो चाहो कर सकते हो। क्योंकि खर्च का सुभीता है। पैसे को तुच्छ समझ सकते हो, क्योंकि वह है। मैं तुमसे कहता हूं राजीव कि पैसे के अभाव में सब गिर जाते हैं। तुमने नहीं जाना, लेकिन मैंने उस अभाव को जाना है। तुमने पूछा है और मैं कहता हूं कि हां मैं प्रसन्न नहीं हूं। लेकिन धन के बिना प्रसन्न होने का मेरे पास और भी कारण न रहता। तुम्हारी आयु तेईस वर्ष पार कर गई है। विवाह के बारे में इन्कार करते गए हो। हम लोगों को यहां ज्यादा दिन नहीं बैठे रहना है। तब इस सबका क्या होगा। बेटियां पराए घर की होती हैं। एक तुम्हारी छोटी बहन है, उसका भी ब्याह हो जाएगा। लड़के एक तुम हो। सोचना तुम्हें है कि फिर इस सबका क्या होगा। अगर तुम्हारा निश्चय हो कि व्यवसाय में नहीं जाना है, तो मैं इस काम-धाम को उठा दूं। अभी तो दाम अच्छे खड़े हो जाएंगे। नहीं तो मेरी सलाह यही है कि बैठो, पुश्तैनी काम संभालो, घर-गिरस्ती बसाओ। और हमको अब परलोक की तैयारी में लगने दो। सच पूछो तो अवस्था हमारी है कि देखें जिसे धन कहते हैं वह मिट्टी है। पर तुम में आकांक्षा है। चाहे उन्हें महत्वाकांक्षाएं कहो। महत्त्व की हो, या कैसी भी हो, आकांक्षा के कारण धन-धन बनता है। इसलिए तुमको उधर से विमुख मैं नहीं देखना चाहता। विमुख मैं स्वयं अवश्य बनना चाहता हूं। क्योंकि आकांक्षा अब शरीर के वृद्ध पड़ते जाने के साथ हमें त्रास ही दे सकेगी। आकांक्षा इसी से अवस्था आने पर बुझ सी चलती है। तुमको आकांक्षाओं से भरा देखकर मुझे खुशी होती है। अपने में उनके बीज देखता हूं तो डर होता है। क्योंकि उमर बीतने पर जिधर जाना है उधर की सम्मुखता मुझमें समय पर न आएगी तो मृत्यु मेरे लिए भयंकर हो जाएगी। तुम्हारे लिए आगे जीवन का विस्तार है। मुझे उसका उपसहार करना है और तैयारी मृत्यु की करनी है। संसार असार है यह तुम नहीं कह सकते। हां, मैं यदि वहां सार देखूं तो अवश्य गलत होगा। तुम समझते तो हो। कहो, क्या सोचते हो?"

राजीव पिता का आदर करता था। वह चुपचाप सुनता रहा। पिता की वाणी में स्नेह था, पीड़ा थी, उसमें अनुभव था। लेकिन जितने ही अधिक ध्यान से और विनय से पिता की बात को उसने सुना, उसके मन से अपने सपने दूर नहीं हुए। अनुभव अतीत से सम्बन्ध रखता है। वह जैसे उसके लिए था ही नहीं। वह जानता था कि कमाई का चक्कर आने वाले कुछ वर्षों में खत्म हो जाने वाला है। यह बुर्जुआ समाज आगे रहने वाला नहीं है। समाजवादी समाज होगा जहां अपने अस्तित्व की भाषा में सोचने की आवश्यकता ही नहीं रह जाएगी। आप सामाजिक होंगे और समाज स्वतः आपका वहन करेगा। आपका योग-क्षेम आपकी अपनी चिन्ता का विषय न होगा। राजीव पिता की बात सुनते हुए भी देख रहा था कि धनोपार्जन जिनका चिन्तन-सर्वस्व है ऐसा वर्ग क्रमशः मान्यता से गिरता जा रहा है। कल करोड़ों में जो खेलता था आज चार सौ रुपए पानेवाले मजिस्ट्रेट के हाथों जेल भेज दिया जाता है। वह वर्ग शोषक है, असामाजिक है। इसके अस्तित्व का आधार है कम दो, ज्यादा लो। हर किसी के काम आओ, इस शर्त के साथ कि अधिक उससे अपना काम निकाल लो। यह सिद्धांत सभ्यता का नहीं है, स्वार्थ का है, पाप का है। इस पर पलने-पुसनेवाले वर्ग को समाज कब तक सहता रह सकता है? असल में यह घुन है जो समाज के शरीर को खा कर उसे खोखला करता रहता है। उस वर्ग की खुद की सफलता समाज के व्यापक हित को कीमत में देने पर होती है। यह ढोंग अब ज्यादा नहीं चल सकता। इस वर्ग को मिटाना होगा और फिर समाज वह होगा जहां हर कोई अपना हित निछावर करेगा, फुलाए और फैलाएगा नहीं। स्थापित स्वार्थ, संयुक्त परिवार का, वर्ग का, जाति का, सब लुप्त हो जाएगा। स्वार्थ एक होगा और वह परमार्थ होगा। हित एक होगा और वह सबका हित होगा।

पिता की बात सुन रहा था और राजीव का मन इन विचारों के लोक में रमा हुआ था। पिता की बात पूरी हुई तो सहसा वह कुछ समझा नहीं, कुछ देर चुप ही बना रह गया। कारण, बात की संगति उसे नहीं मिल रही थी।

पिता ने अनुभव किया कि बेटा वहां नहीं कहीं और है। उन्हें सहानुभूति हुई और वह भी चुप रहे। राजीव ने उस चुप्पी का असमंजस अनुभव किया। हठात बोला - "तो आप मानते हैं, कुपात्र के पास धन नहीं होगा। फिर इंजील में यह क्यों है कि कुछ भी हो जाए धनिक का स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं हो सकता। उससे तो साबित होता है कि धन कुपात्र के पास ही हो सकता है।"

पिता को ऐसी बातों पर रोष आ सकता था। पर इस बार वह गम्भीर हो गए। मन्द वाणी में बोले—ईसा की वाणी पवित्र है, यथार्थ है। वह तुम्हारे मन में उतरी है, तो मैं तुमको बधाई देता हूं और, फिर मुझे आगे नहीं कहना है।"

राजीव को तर्क चाहिए था। बोला—"आप तो कहते थे कि—"

पिता और आर्द्र हो आए, बोले—"मैं गलत कहता था। परम सत्य वह ही है जो बाइबिल में है। भगवान तुम्हारा भला करे।"कह कर वह उठे और भीतर चले गए। राजीव विमूढ़ सा बैठा रह गया। उसकी कुछ समझ में न आया। जाते समय पिता की मुद्रा में विरोध या प्रतिरोध न था। उसने सोचा कि मेरे आग्रह में क्या इतना बल भी नहीं है कि प्रत्याग्रह उत्पन्न करे? या बल इतना है कि उसका सामना हो नहीं सकता। उसे लगा कि वह जीता है। लेकिन जीत में स्वाद उसे बिलकुल नहीं आया। वह आशा कर रहा था कि पैसे की गरिमा और महिमा सामने से आएगी और वह उसको चकनाचूर कर देगा। उसके पास प्रखर तर्क थे और प्रबल ज्ञान था। उसके पास निष्ठा थी और उसे सर्वथा प्रत्यक्ष था कि समाजवादी व्यवस्था अनिवार्य और अप्रतिरोध्य होगी। पूंजी की संस्था कुछ दिनों की है और वह विभीषिका अब शीघ्र समाप्त हो जाने वाली है। उसको समाप्त करने का दायित्व उठानेवाले बलिदानी युवकों में वह अपने को गिनता था। वह यह भी जानता था कि नगर के मान्य व्यवसायी का पुत्र होने के नाते उसका यह रूप और भी महिमान्वित हो जाता है। उसे अपने इस रूप में रस और गौरव था। वह निश्शंक था कि भवितव्यता को अपने पुरुषार्थ से वर्तमान पर उतारने वाले योद्धाओं की पंक्ति में वह सम्मिलित है।

उसमें निश्चित धन्यता का भाव था कि वह क्रांति का अनन्य सेवक बना है। वह तन-मन के साथ धन से भी उस युग निर्माण के कार्य में पड़ा था और उसके वर्चस्व की प्रतिष्ठा थी। मानो उस अनुष्ठान का वह अध्वर्यु था।

लेकिन पिता जब संतोष और समाधान के साथ अपनी हार को अपनाते हुए उसकी उपस्थिति से चुपचाप चले गए तो राजीव को अजब लगा। मानो कि उसका योद्धा का रूप स्वयं उसके निकट व्यर्थ हुआ जा रहा हो। उसका जी हुआ कि आगे बढ़कर कहे कि सुनिए तो सही, पर वह स्वयं न सोच सका कि सुनाना अब उसे शेष क्या है। पिता उसे स्वस्ति कह गए हैं, मानों अशीर्वाद और अनुमति दे गए हों। पर यह सहज सिद्धि उसे काटती-सी लगी। वह कुछ देर अपनी जगह ही बैठा रहा। तुमुल द्वंद्व उसके भीतर मचा और वह कुछ निश्चय न कर सका।

चौबीस घंटे राजीव मतिभूला-सा रहा। अगले दिन उसने पिता से जाकर कहा—"आज्ञा हो तो मैं कल से कोठी पर जाकर काम देखने लग जाऊं।"

पिता ने कहा—'क्यों बेटा ?"

"जी, और कुछ समझ नहीं आता।"

पिता ने कहा—"तुमने अर्थशास्त्र पढ़ा है। मैंने अर्थ पैदा किया है, शास्त्र उसका नहीं पढ़ा। शास्त्र धर्म का पढ़ा है। ईसा की बात इस शास्त्र की ही बात है। अर्थशास्त्र भी वही कहता है तुम जानो। मैं बी० ए० से आगे तो गया ही नहीं और अर्थशास्त्र की बारहखड़ी से आगे जाना नहीं। फिर भी वहां शायद मानते हैं कि अर्थ काम्य है। राजीव बेटा, धर्म ने उसे काम्य नहीं माना है। इसलिए उसकी निन्दा भी नहीं है, उस पर करुणा है। तुम शायद मानते होगे, जैसे कि और लोग मानते हैं, कि तुम्हारा पिता सफल आदमी है। वह सही नहीं है। ईसा की बात जो कल तुमने कही बहुत ठीक है। मैं उसको सदा ध्यान में नहीं रख सका। तुमसे कहता हूं कि निर्णय तुम्हारा है। निर्णय यही करते हो कि कोठी के काम को संभालो तो मुझे उसमें भी कुछ नहीं है। तुम्हारी आत्मा तुम्हारे साथ रहेगी। मैं तो उसे सांत्वना देने पहुंच

सकूंगा नहीं। उसके समक्ष तुम्हें स्वयं ही रहना है इसलिए मैं तुम्हारी स्वतन्त्रता पर आरोप नहीं ला सकता हूं। पर बेटे, मैं भूल रहा तो भूल रहा, धर्म की और इंजील की बात को तुम अभी मत भूलना। इतना ही कह सकता हूं। समाजवादी हो, साम्यवादी हो, पूंजीवादी हो, व्यवस्था कुछ भी हो, धर्म के शब्द का सार कभी खत्म नहीं होता। न वह शब्द कभी मिथ्या पड़ता है। उसे मन से भूलोगे नहीं तो शायद कहीं से तुम्हारा अहित नहीं होगा। हो सकता है समाज का भी अहित न हो। राजीव, बहुत दिनों से सोचता रहा हूं। अब पूछता हूं कि हम लोग दोनों तुम्हारी मां और मैं, अब जा सकते हैं कि नहीं। अपनी बहन सरोज के विवाह को तो ठीक-ठाक तुम कर ही दोगे।"

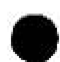
राजीव ने कहा—"नहीं, नहीं, यह नहीं—"

पिता ने हँस कर कहा - "लेकिन इतना जिम्मा तुम नहीं उठा सकते, यह मानने वाला मैं थोड़े ही हूं और—"

"वह तो ठीक है। लेकिन मेरा विवाह ?"

तेरा !······तो यह बात है। अच्छा-अच्छा !"

राजीव ने उठ कर पिता के चरण छुए। पिता ने उसके सिर पर हाथ रखा। उनकी आंखों में आंसू आ गए थे। राजीव भी गद्गद् था। उसे याद नहीं रहा कि कुछ वर्ष हुए उसने घोषणा की थी कि पांव छूना गुलामी है, वह आदर देना नहीं है। तभी यह भी निश्चय हुआ था कि विवाह में पड़ना मन्द और बन्द होना है। उन वर्षों को एकदम मिटा कर कहां से कैसे यह क्षण उसके जीवन में आ गया था, किसी को पता न था। लेकिन उस क्षण में जैसे अनन्त धन्यता भरी थी।



जोगा

पहाड़ी

हमारे कस्बे में ग्रामोफोन का आगमन पहले-पहले फौज के पेन्शन-याफ्ता एक सूबेदार साहब की कृपा से हुआ था। शादी, मुण्डन, होली दीवाली, आदि सभी उत्सवों पर हम उस मशीन का दिल खोल कर उपयोग किया करते थे। उसके साथ के रिकार्ड चिकने पड़ गए थे और तीखी चिर्रचिराहट के साथ बजा करते थे। पर सुनने के शौकीन घिसी हुई सुइयों का बार-बार उन पर प्रयोग करते और ऐसा मुंह बनाते कि मानो वे विलकुल नई हों। सूबेदार साहब का कहना था कि वह बहुत नाजुक मशीन थी। शुरू-शुरू में वे स्वयं ही उसे बजाया भी करते थे। फिर उनके भतीजे को यह अधिकार मिल गया था और अब तो ग्रामोफ़ोन के साथ उनके भतीजे साहब की इज्जत भी बढ़ गई थी और सूबेदार साहब उस भार से मुक्त हो गए थे। अब उसे व्यवहार में लाने के लिए उनकी इजाजत की आवश्यकता भी नहीं रह गई थी। इससे उनके भतीजे साहब के नखरे बहुत बढ़ गए और उनको मनाने के कई नुस्खे वहां के लोगों ने निकाल लिए। जिस किसी परिवार को मशीन की जरूरत होती, वह उनको खासी दावत दिया करता और कई परिवारों की महिलाएं उनको मफलर, मोजे, आदि बुनकर देतीं, कि समय पर बाजा मिलने में कोई बाधा न पड़े।

ग्रामोफोन के आगमन के बाद पुश्तैनी बाजा बजाने वाले हरिजनों के परिवार में हलचल मच गई और लगा कि अब उनका कारोबार

बन्द हो जाएगा। उनको अपनी हालत नाइयों के समान मालूम पड़ी, जो कि ब्लेडों के आगमन के बाद, परिवार में सेफ्टीरेज़र के साथ अपनी रोज़ी में मन्दी पा रहे थे। इसलिए हरिजनों का एक शिष्टमंडल सूबेदार साहब के घर पर गया और उनसे आश्वासन पाकर कि अभी तो सारे कस्बे में एक ही ग्रामोफोन है, उनकी चिन्ता कुछ कम हो गई। फिर भी, वह लड़कों से जानकारी प्राप्त करते रहते थे और यह सुन कर कि ग्रामोफोन में वह सामूहिक आनन्द नहीं है, जो कि शहनाई, ढोल, तुरही आदि बाजों में है, उन्हें बड़ी खुशी होती थी। सभी लोग उस मशीन के बड़े फूल को देखते थे और फिर घूमते हुए रिकार्ड पर, जिस पर बना हुआ 'कुत्ता' तेज़ी से चक्कर काटता था। सूबेदार साहब ने बताया था कि 'कुत्ता' मजबूती का निशान है और कम्पनी का 'ट्रेड मार्क' है।

वह ग्रामोफोन विलायत की किसी कम्पनी का बनाया हुआ था और सूबेदार साहब को कोई फौजी कप्तान जर्मनी की सन् चौदह की लड़ाई में जाने पर अपनी यादगार में दे गया था। वह अफसर कहां चला गया, उनको मालूम नहीं था। फिर लड़ाई को बीते हुए भी कई साल गुज़र गए थे और सन् 1927 ई० में तो सूबेदार साहब भी पेन्शन पर आ गए थे। वह मशीन बहुत भारी थी। एक लड़का तो केवल उसका फूल ही उठा पाता था। जब उसे सजा कर किसी महफ़िल के बीच रखा जाता था, तो वह रोबीला लगता था। वह बाजा सभी का मनोविनोद किया करता था—मुन्नी बाई तथा गौहर जान के गलों की कलाबाजियां सुन कर सभी मुग्ध हुआ करते थे। कई संगीतज्ञों ने तो बीच में ताल देना भी शुरू कर दिया था और वे बीच में यह बताने में भी न चूकते थे कि बाई जी बेसुरी हो गई थीं, तबले वाले ने संभाल लिया, नहीं तो सब रंग फीका पड़ जाता।

होली के दिन थे। रात को संगीत के कई नए कार्यक्रमों के बाद जब ग्रामोफोन चालू किया गया, तो मुन्नी बाई कुछ देर तक नाज-नखरे के साथ गाती रहीं और फिर 'चट' की-सी आवाज हुई और लगा कि मानो किसी ने बाई जी का गला दबोच दिया हो। भारी आवाज के साथ

रिकार्ड का चलना धीमा हो गया और फिर वह अपने-आप ही बन्द भी हो गया। सभी ने अपनी बुद्धि दौड़ाई, पर नतीजा कुछ नहीं निकला। कानूनगो परिवार की महिला ने अपने पुत्र की ओर भारी उम्मीद के साथ देखा। लड़के के पिता ने बताया था कि वह सातवीं में साइंस लिए है और आगे चल कर बड़ा इंजीनियर बनेगा। पर वह भी राय देने में असफल रहा। बड़ी मायूसी के साथ कार्यकर्ताओं ने ऐलान किया कि कार्यक्रम समाप्त किया जाता है। लेकिन सभी परेशान थे कि सूबेदार साहब को क्या जवाब दिया जाएगा। वह बाजा लगभग एक साल से वहां के लोगों का मनोविनोद किया करता था। अब लगा कि हमारा वह अभिन्न मित्र सदा के लिए हमसे बिछुड़ गया है। लेकिन एक ढाढ़स तो था कि सूबेदार परिवार की छोटी बहू समारोह में थी। वह अवश्य ही अपनी सास को बताएगी कि किसी ने जान-बूझ कर शरारत नहीं की। उसने अपनी सहेलियों से यह बात कही भी थी कि किसी का कसूर नहीं है।

समारोह समाप्त होने पर भी संयोजक मंडली बड़ी देर तक उस स्थिति पर विचार करती रही और काफी विचार विनिमय के बाद तय हुआ कि वह मशीन जोगा लोहार को दिखलाई जाए। कस्बे के नुक्कड़ पर मुख्य बाजार के पिछवाड़े जो हरिजनों की बस्ती थी, वहां वह अपनी दुकान पर काम करता था। वह बूढ़ा प्रति दिन आंखों पर छोटे-छोटे चश्मे लगाए हुए कई पुर्जों को बारीकी से भांपा करता था। उस मोहल्ले में और कारीगर भी रहा करते थे, जो कि न जाने कितनी पीढ़ियों से अपनी कारगरी की वस्तुओं के निर्माण से कस्बे की आवश्यकताएं पूरी किया करते थे। जोगा के शरीर में उसके परदादा, दादा, पिता से पाया हुआ खून बहता था, जिसमें एक कुशल लोहार के सभी गुण थे। वह खच्चरों के पावों के साधारण खुरों से लेकर खेती की आवश्यकता के सभी सामान बनाया करता था। लोगों का कहना था कि उसका बनाया हुआ हँसिया इतना तेज होता है कि उससे भैंस की गरदन एक बार में ही उड़ जाती है। इसलिए तांडव-नृत्य या अन्य समारोहों में जहां कि बलिदान हुआ करते थे, उसकी बनाई और तेज की

गई थमाली ही व्यवहार में लाई जाती थी। जिस गांव में उत्सव हुआ करता था, वहां का मुखिया आकर अपने हथियार ठीक करवा के ले जाता था। समारोह के बाद उस कारीगर के सम्मानार्थ एक 'सीधा' (खाने का पूरा कच्चा सामान), पांच आने और किसी जानवर का सिर उसके पास भेज दिया जाता था। समीप के गांवों के समारोहों में वह खुद भी शामिल हुआ करता था।

उस रात्रि को जबकि सभी लोग ग्रामोफोन की समस्या से उलझे हुए थे, तो न जाने किसने उस कारीगर का नाम ले लिया और सबको भरोसा हो गया कि वह अवश्य ही इस मुसीबत को हल कर देगा। फिर तो, सब मिलकर उसके ज्ञान भंडार की बातें करने लग गए। किसी ने उसका दावा बताया कि वह किसी भी तरह की मशीन को बना लेगा। एक बार उसने एक अलार्म की घड़ी ठीक की थी। दूसरे का कहना था कि वह बन्दूक तथा दूसरे हथियार बनाना भी जानता है। एक वृद्ध महोदय ने तो उसके परिवार का इतिहास शुरू करते हुए बताया कि आज राजदरबार वहां से भले चला गया है, पर एक जमाना था जबकि उसके पुरखे रंगीन अंगरखा पहनते थे और सदा ही राजदरबार के शिकार में शरीक होते थे। उसका परिवार युद्ध के अस्त्र-शस्त्र बनाने में निपुण था। गोरखों ने जब यह देश जीता, तो उसके दादा को अपने यहां नौकर रखना चाहा था। वे चाहते थे कि वह उनके लिए खुकरियां बनाया करे। लेकिन उसने अपनी असमर्थता प्रकट की थी।

(2)

अगले दिन हम लोग जोगा की दुकान पर पहुंचे। वह एक छोटा एकमंजिला कमरा था। उसका लड़का आग पर लोहे के टुकड़े को गरम कर बार-बार हथौड़े की चोटें उस पर मार रहा था। उस लाल लोहे से चिनगारियां उड़ रही थीं। फिर वह उस लोहे के टुकड़े को पानी में डालता और वह नाग के-से स्वर में फुफकार उठता। वह बढ़ा अब उस लोहे को देख कर सावधानी से परख कर बोला कि वह जर्मनी का नहीं है, विलायती है। जर्मनी वालों की तरह पक्का लोहा गलाना कोई नहीं जानता है। फिर सावधानी से उसकी जांच करके

बोला कि उसका पुर्जा कमजोर रहेगा, वह अधिक लचकदार होगा और ज्यादा दिन नहीं चलेगा। हमको देख कर बोला कि यह लोहा क्या मजबूत है— इससे अच्छा लोहा तो हमारी पहाड़ी खानों में पैदा हुआ करता था। हमारे पुरखे उसी से अपनी जरूरत की चीजें बनाया करते थे। फिरंगी ने आकर उन खानों को बन्द कर दिया और न जाने कहां से यह कच्चा लोहा भेज दिया है, जो हमारे यहां की आबोहवा के लिए बेकार है। यह बहुत महंगा पड़ता है। हमारे लोहे के हथियार आज भी पुराने खानदानों के यहां पड़े होंगे। उनको देखने से पता चलेगा कि हमारा लोहा क्या था। एक बार दिल्ली के मुगल दरबार को यहां से कुछ हथियार बना कर भेजे गए थे, तो वहां के राजा ने सोचा कि यह देश बहुत अमीर है और इस पर चढ़ाई करने की ठहराई थी। लेकिन हमारा दीवान वहां गया और उसने वहां के राजा को बताया कि उनका देश बहुत गरीब है। इस पर मुगल बादशाह हंसा और बोला कि वहां तो सोने-चांदी के पहाड़ होते हैं। इस पर दीवान ने अपनी जेब पर से करेला निकाल कर बताया था कि इस तरह की ऊंचाई-निचाई है—खेत नहीं, बाग नहीं। बस, वह बादशाह बहुत खुश हुआ और उसी समय हुक्म दिया कि इधर कोई टैक्स न लगाया जाए।

हमें यह बताया जा चुका था कि जोगा हमारे इतिहास का एक बड़ा भंडार है और जब कभी कोई उसकी दुकान पर जाता है वह पुरानी बातें बता कर बड़ा समय ले लेता है। हमें उसकी बातों को सुनने का उत्साह उस समय नहीं था और शायद वह इस बात को समझ भी गया। उसने, बिना किसी भावुकता के वह मशीन ले ली और हंस कर बोला कि मशीन तो जर्मनी की है, पर उसका स्प्रिंग एकदम विलायती कच्चे लोहे का है। इन विलायत वालों को तो बस, दुकानदारी करनी आती है कि रुपया कमाया जाए। कच्चा स्प्रिंग लगा दिया, जो कि जंग खा जाता है और फिर यदि कम्पनी से नया मंगाइए, तो बस, बीस रुपया—मानो वहां से हाथी-घोड़ा मंगवाया गया है। फिर हम लोगों को संबोधित करके वह बोला—फिरंगी हमें लूट रहा है। उसे खुद तो माल बनाना आता नहीं है, जर्मनी का माल अपने नाम से बेचता है।

लेकिन हमारे आगे तो उस ग्रामोफोन की समस्या थी। हमारी उत्सुकता को जान कर वह बोला कि शाम तक टांका लग जाएगा। हम कुछ कहें इससे पहले ही उसने बताया कि एक रुपया मजदूरी होगी और आठ आना अग्रिम देना होगा क्योंकि मसाला खरीदना पड़ेगा। फिर उसने बताया कि कारोबार की हालत ठीक नहीं है और गुजर बड़ी कठिनाई से होती है। उसने यह भी कहा कि इस काम में पांच आने से अधिक की बचत नहीं है। टूटे स्प्रिंग पर टांका तो बड़ी कम्पनियां भी लगाना नहीं जानती हैं। उनका तो दो-टूक जवाब होता है कि स्प्रिंग बदला जाएगा। कम्पनी को तो अपना मुनाफा चाहिए। खरीदार की कोई परवाह उनको नहीं रहती है। यह मशीन भी बीस-तीस रुपये में तैयार हो सकती है। यदि उसके पास साधन होते तो वह इससे अच्छी मशीन बना सकता था। आवाज भरना नई बात थी, पर वह तो उसके पेशे की बात नहीं थी और न उसका उससे कोई सम्बन्ध ही था।

सावधानी से उस स्प्रिंग को आलमारी पर रख कर उसने अपना हुक्का भरा और बड़ी देर तक खांसता रहा। वह पिछले चार-पांच साल से दमे का मरीज़ हो गया था और बहुधा बीमार रहा करता था। कई भारी-भारी दम लगा कर उसने चिलम रख दी। किसी ने चुपके से मेरे कान में यह भी कहा था कि वह चरस पीता है। पर यह नशा करना आवश्यक था। जो व्यक्ति अपने अतीत की स्मृतियों का इतना बड़ा खजाना संवारे हुए हो, उसका मन आज का हाल देख कर सचमुच ही मुरझा जाएगा। सम्भवतः इसीलिए वह नशा करता होगा। उसकी आंखें लाल हो गई थीं और गला भारी पड़ गया था। वह कुछ सोच कर बोला—"आज पहले जमाने के लोगों वाली बात नहीं रह गई है। आज तो जमाना ही बदला हुआ नजर आता है।"

वह जाति का हरिजन था और मशीन के नए जमाने के आने के साथ इस तरह के कारीगरों का सम्मान घटता चला जा रहा था। यह सभी जानते थे कि हरिजनों को वे सामाजिक अधिकार प्राप्त नहीं थे, जो और ऊंची जाति वालों को प्राप्त थे। फिरंगी ने दस्तूरे-अमल—पुराने रीति-रिवाजों के आधार पर—वहां के लिए कानून बनाए थे। उस कानून

के अन्तर्गत हरिजनों को कोई सामाजिक अधिकार नहीं था। जोगा अपने बड़े लड़के की शादी धूमधाम से करना चाहता था और उसकी बरात जब एक गांव से गुजर रही थी, तो वहां के राजपूतों तथा ब्राह्मणों ने वहू को पालकी पर चढ़ कर गांव के बीच से नहीं जाने दिया था। जोगा उस अपमान के घूंट को चुपचाप पी कर लौटा था और तब से उसकी हालत नहीं सुधरी थी। अब तो वह काम पर भी मन नहीं लगाता था और अपने लड़के को बताता था कि बहुत बुरा जमाना आने वाला है। अब कारीगरों की कोई इज्जत नहीं रह जाएगी।

शाम को हम ग्रामोफोन ले कर फिर होली का समारोह मनाने की तैयारी करने लगे। रात को कई स्वांग किए जाने वाले थे और हमने उस समारोह में आने के लिए जोगा को भी निमंत्रित किया था। उसे निमंत्रण देने वाले मसले पर आपस में बड़ी देर तक बहस होती रही। बूढ़े-बूढ़ियों ने उस समारोह का बायकाट करने का नारा दिया, लेकिन हमारे आगे उनकी एक न चली। अब, जब वह ग्रामोफोन बजाया गया, तो उससे आवाज और सुरीली निकल रही थी। जोगा आंखें मूंदे हुए बैठा सुनता रहा, फिर बोला कि आवाज और साफ होनी चाहिए। उसे यह मालूम हुआ कि शायद वह स्प्रिंग ठीक तरह नहीं कस पाया है और इसीलिए उसने आश्वासन दिया कि अगले दिन उसे खोल कर ठीक कर देगा। लेकिन जब उसे बताया गया कि सुई को केवल दो बार व्यवहार में लाना चाहिए, जबकि एक सुई पचास-साठ बार चलाई जा रही है, तो वह मुस्कराया और बोला कि फिरंगी सब चीजों में लूट मचा रहा है। उसने कुछ सुइयां लीं और उनकी नोक अपनी उंगलियों पर चुभाने की चेष्टा की—उनको परखा। फिर, कुछ देर तक न-जाने वह क्या सोचता रहा।

फिर वह सूबेदार साहब से बातें करने लगा। वे अंग्रेजों के भक्त थे। उसे बता रहे थे कि अंग्रेज बहादुर कौम है, लेकिन उसका कहना था कि जर्मनी वाले ज्यादा बहादुर हैं। वे अच्छे कारीगर भी हैं। वह उनके इस्पात पर मुग्ध था और उसकी अपनी धारणा थी कि लोहे का सामान जर्मनी वालों से अच्छा कोई नहीं बना सकता है। मजाक में

वह कहता था कि विलायत वाले तो बस, टीन का सामान बना कर बेच सकते हैं।

मैं होली के बाद भी लगातार उससे मिलता रहा और वह मुझे कई बातें बताता रहा। उसका कहना था कि राजदरबारों में कलाकारों की इज्जत होती थी और उनको प्रोत्साहन मिलता था। यही कारण था कि उस समय कारीगरों का ध्यान वस्तुओं के निर्माण की ओर अधिक था। फिर उसने बताया कि एक बार उसने एक बन्दूक बनाने की चेष्टा की थी और उसको इसमें सफलता भी मिल गई थी; पर उसे बताया गया कि यह काम गैर-कानूनी है। इसलिए वह चुप हो गया और कभी इस पर नहीं सोचा। उसने कहा कि किसी मशीन को छूते ही, यदि कारीगर चैतन्य है, तो वह उसका ढांचा समझ जाएगा और फिर उसके दिमाग पर उसकी छाप पड़ेगी। उस पर कुछ विचार करने के बाद वह ढांचा पकड़ में आ जाएगा। इसके बाद उसके लिए वस्तु का निर्माण करना आसान हो जाता है। इस बात की सचाई को साबित करने के लिए उसने हमें ग्रामोफोन की एक सूई बना कर दी थी। सच ही, वह सूई मजबूत थी और उससे हमने सैकड़ों रिकार्ड बजाए थे। उसके लड़के ने बताया था कि लगभग बीस रोज की मेहनत के बाद वह उक्त सूई बना पाया था।

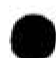
जोगा से मेरी अन्तिम मुलाकात सन् 1929 ईस्वी में हुई। मेरा एक साथी मैदान से आकर हमारे परिवार में टिका हुआ था। उसने चुपके से एक दिन मुझसे पूछा कि यहां कोई पुराना लोहार-परिवार तो नहीं है। उसकी बात को सुनते ही मुझे जोगा की याद आई और मैं उसे लेकर उसकी दुकान पर पहुंचा। उस समय उसकी सेहत अच्छी नहीं थी और वह चारपाई पर लेटा हुआ था। मैंने जोगा को अपने मित्र का परिचय दिया, तो वह बहुत खुश हुआ। उसके बाद मेरा दोस्त लगातार जोगा के यहां जाया करता। मुझे उसने बताया था कि वह भारत के पुराने कला-कौशल पर एक किताब लिख रहा है और उसमें ऐसे कारीगरों का एक बड़ा हाथ रहेगा। इनमें से हर एक अपने पेशे के इतिहास की जीवित डायरी है। दोस्त कुछ दिन वहां रह

कर चला गया। जाते समय वह मुझसे कह गया कि जोगा की पूरी हिफाजत की जानी चाहिए। उसने आश्वासन दिया कि वह कुछ रुपये भेजेगा। उसने यह भी बताया कि हमारे देश का दुर्भाग्य है कि ऐसे कारीगरों को आज पेट भर खाना नहीं मिल पाता है।

उस कस्बे को छोड़े हुए लगभग बीस साल हो चुके हैं। सामन्तवादी परिवारों का ढांचा टूट जाने के कारण हमारा परिवार उस कस्बे से निकल आया। पिता जी ने पेन्शन के बाद दूसरे शहर में मकान बना कर वहीं रहने का निश्चय कर लिया था। हम लोग उन पुरानी बातों को भूल गए। फिर इधर जमाना भी तो तेजी से बदल गया है।

कल मेरा वह पुराना मित्र एकाएक आ पहुंचा। वह आजकल एक बड़े सरकारी ओहदे पर है। हम लगभग बीस साल के बाद मिले थे। उसने पहला सवाल किया कि जोगा के परिवार का क्या हाल है? जोगा का परिवार! मैं क्या बचपन की सब बातों की गठरी संवार कर रखता हूं लेकिन वह तो बोला ही कि पिछली बार जब वह हमारे परिवार में टिका था, तो उसको क्रान्तिकारी पार्टी ने देशी पिस्तौल बनवाने का काम सौंपा था। इसी सिलसिले में वह मुझसे भी मिला था। यह सुन कर सच ही मुझे आश्चर्य हुआ था कि जोगा देशी पिस्तौल बनाने में सफल हुआ था।

जोगा के लिए श्रद्धा से मेरा माथा झुक गया। शायद उसका परिवार आज अपना पेशा छोड़ कर कोई और रोजगार कर रहा होगा। नए जमाने के साथ नए आविष्कार हुए हैं—उनकी प्रगति में, जोगा सरीखे कारीगरों का ही सबल सहयोग रहा है, जो कि अपने पेशे की प्रगति की ओर सदैव सचेत रह कर मानव की भलाई की बात सोचा करते थे।



हिप्नोटिस्ट

बेढब बनारसी

चायपान भी किसी विश्वविद्यालय से कम महत्व नहीं रखता। विश्व-विद्यालय में भले ही केवल पुस्तकों पर मालिश होती हो, चाय-पान के अवसर पर विचारों का विनिमय होता है। चाय की घूंट और मौलिकता में वही सम्बन्ध है, जो कामा बैसिलिस और कालरा में है। गले के नीचे चाय उतरी नहीं कि विचार उबलते पानी की भाप की भांति निकलने लगते हैं। आप उन्हें रोक नहीं सकते। सुना करते थे कि अंगूर की बेटी में ही यह गुण पाया जाता है—ढालने पर विचार ढलने लगते हैं। परन्तु चाय में यह गुण कम नहीं है। वशिष्ठ तथा अनिरुद्ध के साथ मैं चाय पी रहा था। वशिष्ठ यहां एक डिग्री कालेज में अंग्रेज़ी के लेक्चरर हैं। पंजाब के निवासी हैं। विभाजन के बाद कानपुर में आकर बस गए। आर्यसमाजी होने के कारण प्रगतिशील विचारों के हैं। कहते हैं—हम मानव हैं, वैदिक धर्म मानते हैं। यों जाति के बढ़ई हैं। पर जाति आदि से क्या? सभ्य हैं, भले आदमी हैं। संस्कृत व्यक्ति हैं। इतना बहुत है। अनिरुद्ध वकील हैं। वकालत साधारण है। किसी प्रकार काम चल जाता है। किन्तु अभी है ही कितने दिनों की; पांच-छः साल हुए—इतने दिनों में तो पुत्र भी पिता को अच्छी तरह पहचान नहीं पाता।

एक प्याला चाय समाप्त हो चुकी थी, दूसरे का आरम्भ था। अनिरुद्ध ने पूछा—"कल कोटि भास्करन के प्रदर्शन में आप गए थे?"

"मैं तो न जा सका, यद्यपि इच्छा मेरी थी।"—मैंने साधारण ढंग से कहा।

"मुझे ऐसी वाहियात बातों में विश्वास नहीं है।"—वशिष्ठ ने गम्भीरता से कहा। गम्भीरता उनके लिए वैसी ही थी, जैसे रक्त के लिए लाली होती है। वैज्ञानिक होने के कारण उन्हें गम्भीर बनना भी पड़ता था। यदि कोई वैज्ञानिक हास-परिहास करता देखा जाता है तो समझा जाता है कि उसने फैरेडे, न्यूटन, क्यूरी के नाम पर दाग लगा दिया। साइन्स वालों के लिए मुस्कराना वैसा ही समझा जाता है, जैसे गुलाबजल में नेपथलीन की महक आना। इस परिपाटी का निर्वाह वशिष्ठ महोदय बड़ी कला से करते थे। कुछ रुक कर उन्होंने कहा—"जो बात प्रयोग द्वारा सिद्ध नहीं होती, उस पर मूर्ख विश्वास करते हैं।"

मैंने कहा—"तुमने सुना तो है ही नहीं कि यह क्या कह रहा है; पर विरोध करने लगे। विज्ञान की यह भी कोई पद्धति है क्या ?"

"मैं जानता हूं, यह क्या कहने वाला है।"—वशिष्ठ बोला।

"अच्छा, तो तुमने भौतिक विज्ञान ही नहीं, ज्योतिष का भी अध्ययन किया है। तुम जान जाते हो कि क्या होने वाला है?"–मैंने कहा।

"ज्योतिष आदि मूर्खों को ठगने के लिए हथकंडे हैं। मैं उन्हें सीखना अपना, विज्ञान का, बुद्धि का और मानव का अपमान समझता हूं।"—वशिष्ठ बोले।

"तब तुम कैसे कहते हो कि मैं जान गया, यह क्या कहेगा ? इसकी बात तो सुन लेते।"—मैं बोला।

"यह तो साधारण-सा गणित है। दो और दो चार ही हो सकते हैं—तीन या पांच नहीं। ये महोदय कोटि भास्करन का व्याख्यान सुनने गए थे। वे क्या बोलते हैं, मैं जानता हूं। सो, समझ गया, ये क्या बताएंगे।"—वशिष्ठ ने भावुकता से कहा।

"अच्छा, तो चुपचाप सुनो, यह क्या कह रहा है।"—मैंने विनोदात्मक ढंग से कहा।

अनिरुद्ध ने प्याला एक हाथ में उठा लिया और कहा—"कल जो कुछ मैंने देखा वह मेरी समझ में आया ही नहीं। वह इतना आश्चर्य-

जनक था, कौतूहलपूर्ण था, बुद्धि को चकरा देने वाला था कि कहते नहीं बनता। भास्करन ने कुछ प्रयोग दिखाए। आदमी बेहोश करते और उससे बातें पूछते मैंने अनेक खेल देखे हैं, पर भास्करन ने तो कमाल कर दिया। उन्होंने कहा कि उपस्थित जनता में से कोई आ जाए। मैं उसे बेहोश कर दूंगा और उसकी आत्मा से आप जो चाहें, पूछ सकते हैं।"

"अरे, हम जानते हैं। सब मिले होते हैं। लोगों के बीच बैठे रहते हैं। —जान पड़ता है, दर्शकों में हैं।"—वशिष्ठ बोले।

"अजी साहब, यह बात हो ही नहीं सकती। किचलू साहब जो कलक्टर हैं न, उनकी साली को उसने बेहोश कर दिया। उनके मिले रहने की बात ही नहीं हो सकती। बेहोश करने के बाद लोगों ने कितने ही प्रश्न पूछे और उस लड़की ने ऐसे उत्तर दिए कि लोगों को दांतों-तले उंगली दबानी पड़ी। और, दर्शकों में आप क्या समझते हैं, भेड़-बकरियां थीं? नगर के बुद्धिमानों का समूह वहां एकत्र था। अफसर तो थे ही, वकील भी थे। अध्यापक, लेक्चरर, डाक्टर और व्यापारी सभी तबकों के लोग वहां थे।"

वशिष्ठ ने कहा—"आजकल सरकारी कर्मचारी तथा अधिकारी पूजा-पाठ में बहुत विश्वास करने लगे हैं। नौ बजे दिन तक बाथरूम में रहते हैं और ग्यारह बजे तक पूजा पर। कभी सवेरे जाकर देख लीजिए। उनका विश्वास भी योगी-यति, सन्त-संन्यासी, भूत-प्रेत, मन्त्र-तन्त्र में बढ़ गया है। राज्य धर्म-निरपेक्ष होते ही सारा धर्म घूम कर इन लोगों के हृदय में आ गया है। और, यह एक तरह से अच्छा ही हुआ। राज्य से धर्म निकल ही गया। यह लोग भी न अपना लेते, तो फिर वह लुप्त ही हो जाता।"

मैंने कहा—"तुम कृपा कर सुन तो लो।"

अनिरुद्ध ने आगे कहा—"बड़े-बड़े मूर्ख होते हैं! किसी ने पूछा—'तुलसीदास से भेंट कर सकती हैं आप?' उस लड़की ने दो मिनट के बाद कहा—'हां, मैं ठीक उनके समक्ष हूं। आज उनके मकान के चारों ओर कुछ लोग हड़ताल कर रहे हैं। संस्कृत के विद्यार्थी हैं। तुलसीदास ने रामचरितमानस में उनकी उपमा दादुर से दे दी है। सभी इससे बहुत नाराज हैं। वे मना रहे हैं। इस समय उनसे बात नहीं हो सकती।"

वशिष्ठ ने कहा—"यह सब गप्प है। किसी को इस पर विश्वास हो सकता है ?"

'फिर भास्करन ने कहा—"कल का समय हम देते हैं। जो चाहे आए, हम उसे बेहोश करेंगे।"

वशिष्ठ जोश में आ गए। बोले—"अच्छा, मैं चलूंगा। कहूंगा—'मुझे बेहोश कीजिए'। देखूंगा उनका हिप्नोटिज्म।"

तै हुआ। छः बजे संध्या से सभा थी। पांच बजे से ही वशिष्ठ तैयार होने लगे और साढ़े-पांच बजे ये लोग जाकर सबसे आगे बैठ गए, जैसे आजकल महंगी के दिनों में किसी दावत का निमन्त्रण पाकर भूखा परिवार आसन जमा लेता है। छः बजे के लगभग हाल भर गया। परलोक के प्रति इतनी आस्था लोगों को है, वह उसी दिन जान पड़ा। भारत की विशेषता है कि इस लोक की ओर कम ध्यान रहता है—मृत्यु के पश्चात, जिस लोक में मनुष्य जाने वाला होता है, उसी की ओर अधिक आकर्षण रहता है। कोटि भास्करन महोदय ठीक समय से पधारे। कुरता-धोती के ऊपर आपने लाल मखमल का बिना बटन का लम्बा ओवरकोट पहन रखा था। ओवरकोट के ऊपर पचास-साठ पदक टंके हुए थे, जैसे रक्त में कार्पसल (रक्ताणु) टहल रहे हों। आपके सामने, मंच पर, एक लम्बी मेज रखी थी। उस पर साफ नीले रंग की चादर बिछी थी। आपने मेज के सामने खड़े होकर दर्शकों को नमस्कार किया और कहा—"देवियो और सज्जनो, आपने कल मेरा योग देखा। भगवान की कृपा है, मैंने दूसरे जगत से सम्पर्क स्थापित कर लिया है। राकेट अथवा स्पुतनिक से चांद और मंगल ग्रहों पर भौतिक विज्ञानवादी भले ही पहुंच जाएं, किन्तु आत्मा के संसार में उनका पहुंचना असम्भव है। वे आप को स्वर्ग की झांकी नहीं दिखला सकते। यद्यपि अभी एक-एक व्यक्ति ही स्वर्ग के दर्शन कर सकता है, पर मैं वह समय लाऊंगा, जब आपमें से प्रत्येक व्यक्ति अपनी आंखों से स्वर्ग देखेगा—अपने मृत सम्बन्धियों से भेंट करेगा। पृथ्वी तथा स्वर्ग की दूरी न रह जाएगी। आज इस समय जो चाहे, जिसकी इच्छा हो, यहां आ जाए। मैं उसे 'हिप्नोटाइज' करूंगा। पहले उसे अचेतन

अवस्था में ले जाऊंगा और तब, जहां कहिएगा, उसे ले जाऊंगा। आप में से जो भी चाहें, वहां का हाल पूछ लीजिएगा।"

उनके भाषण में सत्य का उतना ही बल जान पड़ता था, जितना सेना के कूच करने के पहले सेनापति के भाषण में होता है। दो-तीन मिनट तक हाल में शान्ति रही। इसके पश्चात पीछे की कुरसी से एक सज्जन उठे और आगे की कुरसी से वशिष्ठ उठे। जब तक पीछे वाले सज्जन मंच तक पहुंचे, वशिष्ठ मेज के पास पहुंच गए। कोटि भास्करन ने कहा—"आपको स्वर्ग में विश्वास है ? जिसे विश्वास न होगा, वह बेहोश नहीं हो सकता।"

वशिष्ठ ने कहा—"मुझे पूरा विश्वास है। मैं स्वर्ग देख कर अपना विश्वास और पक्का करना चाहता हूं।"

कोटि भास्करन ने उन्हें मेज पर लिटा दिया और एक कागज पर कुछ लिखकर दिया कि इस मन्त्र को पांच बार पढ़ लीजिए मन में। वशिष्ठ जब मन्त्र पढ़ चुके, तब भास्करन ने उनके ऊपर हा घुमाना आरम्भ कर दिया। पांच-सात मिनट तक वह हाथ घुमाते रहे। इसके बाद पूछा—"कहिए आप कहां हैं ?"

कोई जवाब नहीं।

भास्करन ने पुन: कहा—"देखिए मैं पूछ रहा हूं कि आप इस समय कहां हैं ?"

वशिष्ठ ने धीमे स्वर में कहा—"अन्धकार, घोर अन्धकार !"

जनता की उत्सुकता बढ़ गई। प्राय: सभी लोग जानते थे कि वशिष्ठ प्रमुक कालेज में प्राध्यापक हैं। उनके चरित्र से भी सभी अभिज्ञ थे। उन्हें बेहोश देखकर सब लोगों की उत्सुकता बेहद बढ़ गई।

कोटि भास्करन ने दो मिनट बाद पूछा—"अब क्या देख रहे हैं आप ?"

एक क्षण के पश्चात धीमे-धीमे स्वर में वशिष्ठ बोले—"आप मुझे कष्ट न दीजिए। वाह ! वाह ! ऐसा प्रकाश मानो सोने में किसी ने दूध मिला दिया। यह शीतलता—कौन लोक है, कौन देश है ? चला जा रहा हूं। सड़क डनलपिलो से भी कोमल किसी वस्तु की बनी है। मेरे आगे एक फाटक है—बहुत विशाल, हरा-हरा ! पन्ने का बना मालूम

होता है। उसके ऊपर इंद्रधनुषी अक्षरों में लिखा है—'स्वर्ग, प्रथम लोक !' इसी में प्रवेश कर रहा हूं।''

कोटि भास्करन ने कहा—''अब इन महानुभाव की आत्मा ने स्वर्ग में प्रवेश किया है। मैं तो आपको जानता भी नहीं। नाम भी नहीं जानता। आप लोग यदि कोई प्रश्न पूछना चाहते हैं, अथवा किसी की आत्मा से कुछ जानना चाहते हैं, तो कृपया पूछें।''

पचासों हाथ उठ गए। कोटि भास्करन ने कहा—''यह मैं जानता हूं कि आप सभी स्वर्ग का परिचय प्राप्त करने को उत्सुक हैं। बात ही ऐसी है। पहले से परिचय प्राप्त कर लेने के पश्चात आप को जब वहां जाने का सौभाग्य होगा, तो कितनी सुविधा होगी ! परन्तु आप यह भी जानते हैं कि समय हमारे पास कितना है ? आपके जिन महानुभाव की आत्मा इस समय स्वर्ग पहुंची हुई है, उन्हें भी इस अवस्था में अधिक देर तक नहीं रखा जा सकता। एक बार ऐसा हुआ कि कुछ देर तक आत्मा स्वर्ग में विचरती रही। उसका मन वहां ऐसा लगा कि वह वापस आना ही नहीं चाहती थी। बड़ी कठिनाई से उसे वापस बुला सका। यदि कहीं इन साहब का भी वही हाल हुआ, तब क्या होगा ? शायद आप ऐसा न चाहते होंगे। यद्यपि स्वर्ग सुन्दर स्थान है, फिर भी आप यह न चाहेंगे कि ये अभी से वहां के नागरिक बन जाएं। आप लोगों में से सिर्फ पांच व्यक्ति प्रश्न पूछें।''

एक सज्जन तुरन्त उठ खड़े हुए और बोले ''यह बताने की कृपा करें कि मेरे ससुर स्वर्ग में हैं कि नरक में ? उन्होंने जितना दहेज देने का वादा किया था, उतना नहीं दिया।''

कोटि भास्करन ने कहा—''आप लोग इस कार्य को हँसी न बनाएं। यह बहुत गम्भीर काम है।''

वह सज्जन बोले—''मैं बिलकुल हँसी नहीं कर रहा हूं। मैं यह जानना चाहता हूं कि वादा तोड़ने का दंड मिलता है कि नहीं।''

कोटि भास्करन ने उक्त सज्जन से उनके ससुर का नाम पूछा और तब वशिष्ठ से कहा—''मुरादाबाद निवासी सेठ पेड़ामल इस समय स्वर्ग में हैं कि नरक में ?''

जनता बड़ी उत्सुकता से उत्तर की प्रतीक्षा करने लगी। एक मिनट के बाद उत्तर मिला—"सेठ पेड़ामल पहले नरक में आए। जिस दिन आए, उसी दिन से यमराज का पांव दबाना आरम्भ किया। उनकी देह भी दबाने लगे। ऐसा आज तक किसी ने नहीं किया था। चार घंटे के बाद वे स्वर्ग भेज दिए गए। अब वे यमराज के शरीर पर मालिश करते हैं और इस समय बहुत आनन्द से जीवन बिता रहे हैं। वे यम की पत्नी धूमोर्णा के प्रसाधन का सामान प्रति दिन एकत्र करते हैं। उन्हीं की सिफारिश से वे स्वर्ग का सुख भोग रहे हैं।"

इसके बाद अनेक लोगों ने अनेक प्रश्न किए। किसी ने अपनी पत्नी का हाल पूछा, तो उसके बारे में बताया गया कि उसे अब स्मरण नहीं है कि पृथ्वी पर किसी से विवाह हुआ था भी कि नहीं। उसने बताया कि मृत्युलोक से यहां आने पर शराब तुरन्त पिलाई जाती है। उसका हरा रंग होता है। स्वाद में वह मीठी होती है। यह सबको पीनी पड़ती है—चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, जैन हो या बौद्ध, ईसाई हो या मूसाई, आर्यसमाजी हो या वाममार्गी। उसके बाद कुछ याद नहीं रहता, कि हम कहां थे या नहीं थे। कुछ और प्रश्न के पश्चात कार्य समाप्त हुआ। कोटि भास्करन ने जनता को धन्यवाद दिया और कहा—"मैं आज संध्या को मैसूर चला जाऊंगा। यदि कोई विशेष रूप से मिलना चाहे, तो जहां मैं ठहरा हूं, वहां मिल सकता है।"

वशिष्ठ लौट कर हम लोगों के पास आ गए। मेरा मन आश्चर्य से उसी प्रकार भर गया था, जैसे नेताओं की गर्दन स्वागत में गजरों से भर जाती है। पर वे चित्र के समान चुप थे। अनिरुद्ध से न रहा गया। उन्होंने कहा—"कहो भाई, तुम तो विश्वास ही नहीं करते थे। तुम्हें उसने कैसे 'हिप्नोटाइज' कर दिया!"

वशिष्ठ मुस्कराए। बोले—"यह सब उस मंत्र की करामात थी, जो उसने पुरजे में लिखकर दिया था।"

मैंने कहा—"अच्छा, तब तो वह विचित्र और बहुत ही उपयोगी मंत्र रहा होगा। तुम याद कर लेते, तो बहुत अच्छा होता।"

वशिष्ठ ने कहा—"मैंने याद कर लिया है।"

मैंने कहा—"यह तो तुमने करामात की। हम लोगों को भी बेहोश करना। हम लोग भी दूसरे लोकों से बातचीत कर सकेंगे।"

वशिष्ठ ने कहा—"मन्त्र बहुत सरल है। अभी बता सकता हूं।"

अनिरुद्ध ने पूछा—"क्या है ?"

वशिष्ठ ने कहा "उसने कागज पर लिख कर दिया था कि "हमारी इज्जत और रोटी का सवाल है। आप भले आदमी हैं। ऐसा न कीजिए कि मेरा अपमान हो।"



जहरीला पार्ट

भारतभूषण अग्रवाल

उसका नाम तो कुछ न था, क्योंकि सांपों के नाम नहीं होते; पर नाम न होने पर भी उसका अस्तित्व था और अपने अस्तित्व का उसे पूरा ज्ञान भी था। पर यह ज्ञान ही मानो उसकी सबसे बड़ी समस्या थी, क्योंकि जब उसे लगता कि उसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जा रहा है, तो उसे चोट लगती और वह तड़प उठता।

उसे मनुष्यों से बड़ा प्रेम था। आप चाहे इसका विश्वास न करें—असल में, उसे कभी भी ऐसा मनुष्य नहीं मिला, जिसने उसकी इस बात पर विश्वास किया हो—फिर भी उसे मानव से प्रेम था। इसी कारण वह अकसर बिलबिला उठता था कि उसके अस्तित्व के बावजूद मनुष्य उसे क्यों नहीं मानते, या मानना नहीं चाहते, और क्यों उसका अपना प्रेम मानव मन में प्रतिध्वनियां उत्पन्न नहीं करता। जब कभी वह मनुष्य के पास जाने की चेष्टा करता, तो या तो मनुष्य ही भाग जाता, या फिर वह ऐसी तैयारियां करता कि उसी को भागना पड़ता। इस स्थिति में उसके त्रास का ठिकाना नहीं था।

और, तब एक दिन इस जटिल समस्या को सुलझाने के लिए उसने जमीन के नीचे प्रवेश कर समाधि लगाई और भूखा-प्यासा, भगवान का स्मरण करने लगा।

भगवान तो प्रकट नहीं हुए, पर उसके मन में ही एक नया ज्ञान जागा। उसने पाया कि मनुष्य उसका अस्तित्व मानता है, अन्यथा वह

उसे क्यों भगा देता है, या स्वयं ही भाग जाता है ? इस ज्ञान से उसे कुछ आश्वासन मिला—उसका त्रास कुछ घट गया।

पर उसका मानव प्रेम और उसका प्रतिदान ? वह फिर अचल-अटल वैसे ही समाधि लगा कर बैठा रहा।

स्वप्न, सुषुप्ति और न जाने कौन-कौन-सी अवस्थाएं पार कर लेने पर उसके मन में दूसरा ज्ञान उदित हुआ। उसके मन में प्रेम है, तो हुआ करे, पर उसके मुख में विष भी तो है। यह उसका विष ही है, जो उसे मानव से तिरस्कार दिलाता है।

ज्ञान की इस नई उपलब्धि ने उसका दर्द बहुत बढ़ा दिया। वह न जाने कितने दिनों तक भगवान का स्मरण करता, रोता-गिड़गिड़ाता रहा कि इस विष से निस्तार मिले, पर उसकी करुण पुकार निष्फल ही रही।

और, तब उसने यह निश्चय किया कि वह अपने विष का कभी प्रयोग न करेगा। क्या यह देखकर भी कि मैं सम्पूर्ण भाव से समर्पित हूं, मानव से मुझे प्रतिदान नहीं मिलेगा ? इस निश्चय से उसका मन हलका हो गया। वह प्राणों में एक नए आलोक का अनुभव करने लगा। कुछ दिन नियमित आहारादि से पुनः स्वास्थ्य लाभ कर वह अपने निश्चय पर दृढ़ होकर बस्ती की ओर चला। बस्ती के सीमान्त में ही एक बहुत बड़ा बंगला था। वह ज्यों ही उसके पास पहुंचा, उसे बीन पर मोहन राग बजता सुनाई दिया। खुशी के मारे वह उछल पड़ा। "नहीं, नहीं, यह मेरा भ्रम है !"—उसने सोचा—"मानव भी मुझसे प्रेम करता है— वह मुझे बुला रहा है। वह जानता है बीन में मेरे लिए कितना आकर्षण है।" और, राग के स्वरों की डोर से खिचता वह अन्दर प्रविष्ट हुआ। पहले मुलायम घास मिली। "सचमुच, मनुष्य कितना महान है !"—उसने सोचा—"मेरे लिए घर में भी कोमल घास की शय्या सजा रखी है।"

फिर दालान, फिर बरामदा, फिर कमरे पार करता वह उस कमरे में पहुंचा, जहां रेडियो से बीन के स्वर निकल रहे थे। रेडियो से आने वाले क्षीण प्रकाश के अतिरिक्त सारा घर अंधकार में था। उसे लगा, अंधकार का यह प्रबन्ध गृहस्वामी ने सचमुच उसके स्वागत में ही किया था।

बीन अब भी बज रही थी। उसका मन एक नई आशा, एक नए मोह से आन्दोलित हो रहा था। वह मृदु-मंथर गति से बढ़ता हुआ, रेडियो की छोटी सी मेज पर चढ़ गया और कुण्डली मार कर, आराम से बैठ, अपना फन रेडियो से लगा दिया। अपने भोलेपन में वह यह सोच रहा था कि अभी इस बीन के स्वरों से निर्मित माया कक्ष के द्वार खुलेंगे और इसमें से मानव निकल कर अपनी भुजाओं में भर लेगा। पर जिस भुजा ने उसे स्पर्श किया, वह रेडियो के भीतर से नहीं, बाहर से आई, और ज्यों ही उसे स्पर्श की सिहरन महसूस हुई, त्यों ही वह मानवी भुजा तड़प कर अलग हो गई। पास में पड़े पलंग से एक छायाकृति धीमे-धीमे उठी और सहमते-सहमते न जाने किधर चली गई।

क्षण भर बाद सारा कमरा प्रकाश से भर गया। उसकी आंखें जलने लग गईं। बड़ी मुश्किल से वह देख सका कि एक मनुष्य दूर खड़ा उसे ताक रहा है। उसके चेहरे का भाव पढ़ना तो उसके लिए असम्भव-सा था। फिर भी, न-जाने क्यों, उसे लगा कि यह वह स्वागत नहीं है, जिसकी वह आशा बांधे था।

थोड़ी देर अगति रही। बीन बजती रही, वह सुनता रहा, और दूर खड़ा मनुष्य उसे घूरता रहा।

अरे ! यह क्या ! यह केवल उसका अनुमान ही था, या सत्य ? उसने आश्चर्य से देखा कि अब एक नहीं, बहुत से मनुष्य वहां जमा हो गए हैं और सब उसकी ओर उसी तरह घूर रहे हैं।

"आओ !"— उसने कहा "आओ, मेरे पास आओ न ! देखो, मैं तुम्हारे लिए कितनी दूर से, कितनी बाधाएं लांघ कर, यहां आया हूं। तुम्हारी बीन सुनकर भला मैं दूर रह सकता था ? आओ, मैं तुम्हें प्यार करता हूं— मैं तुमसे घुल-मिल जाना चाहता हूं।"

पर जब सामने खड़े मनुष्यों की मुद्रा या चेष्टा में कोई अन्तर न पड़ा, तो उसे लगा कि उसकी बात उन तक नहीं पहुंची।

और तब, पहली बार उसे अपनी असमर्थता का ज्ञान हुआ। वह जो कुछ कहता था, उसका अर्थ था, उद्देश्य था; पर उसकी सारी कथा, उसके प्राणों का सारा निवेदन, मनुष्यों के निकट केवल निरर्थक फुफकार

बन कर रह जाता था। "अब मैं क्या करूं ?"—वह सोचने लगा।

इतने में मनुष्यों की भीड़ में हलचल मची। उसे कठोर पुरुष स्वर भी सुनाई पड़े, पर उनका अर्थ समझने में वह भी उतना ही लाचार था। केवल उनकी भंगिमा से ही वह समझ सकता था कि जो कुछ कहा जा रहा है, वह उसके लिए प्रीतिकर नहीं है।

"मैं समझा नहीं !" उसने बिलख कर कहा—"मैं तो छोटा-सा जीव हूं। तुम्हारी भाषा नहीं जानता। पर तुम तो मानव हो, महान हो—तुम क्यों नहीं मेरी भाषा समझ पाते ? चेष्टा करो, तो क्या सीख नहीं सकते ?"

लेकिन दूसरे ही क्षण वह समझ गया कि उसके वचन केवल फूत्कार बन कर रह गए हैं, क्योंकि अब बहुत से लोग डरावने ढंग से उसकी ओर बढ़ रहे थे और उनके हाथों में विचित्र-विचित्र हथियार थे।

उसके मन ने कहा—"भाग चलो, आसार अच्छे नहीं हैं।" पर फिर उसे अपना निश्चय याद आया और अपनी दृढ़ता से उसे बल मिला। "आने दो, कोई चिन्ता नहीं।"—उसने सोचा—"ये अभी समझ जाएंगे कि मैं इनकी हानि करना नहीं चाहता। जब मैं जहर का उपयोग ही न करूंगा, तो फिर ये मुझे क्यों कष्ट देंगे ?" और, कहीं उसकी बात फूत्कार में न परिणत हो जाए, इसलिए उसने एक शब्द भी कहना ठीक न समझा। केवल अपना फन झुका कर, गुड़-मुड़ होकर, शान्त भाव से बैठ गया, मानो पालतू हो !

तभी उसके एक लाठी लगी। चोट से वह तिलमिला गया और बड़ी कठिनाई से उसने अपने मुंह से निकलते दुर्वचन रोके। उसके मन में बैठा कोई बोल उठा—"अब भी समय है, भाग चलो !" पर उसने फन को एक झटका देकर अपना निश्चय दुहराया—"नहीं नहीं, मैं आज फैसला करके ही रहूंगा। तुम... तुम मेरे जहर के कारण ही मुझसे घृणा करते हो न ? हां, मेरे पास जहर है। पर मैं उसका उपयोग न करने का निश्चय कर चुका हूं। मार लो, एक लाठी नहीं, दस और मार लो—पर मैं कुछ नहीं करूंगा। बस, यों ही तुमसे करुणा की, मैत्री की, भीख मांगता बैठा रहूंगा। आखिर, कभी तो तुम पिघलोगे !"

एक लाठी और। उसकी देह तड़प उठी।

"कोई बात नहीं !"—उसने मन-ही-मन कहा—"यह तुम्हारा अज्ञान है, जो तुम मेरे साथ यह दुर्व्यवहार कर रहे हो ! मैंने तो मुक्त-कण्ठ से अपना निश्चय घोषित कर दिया है; पर मैं क्या करूं, जो हम एक-दूसरे की भाषा समझने में असमर्थ हैं। लेकिन आचरण की भाषा भी क्या तुम न समझोगे ? क्या तुमने कभी ऐसा सांप देखा है, जो मार खाकर भी फन न उठाए ? फिर, क्या तुम यह नहीं विश्वास कर सकते कि मैं दूसरी तरह का हूं ? मैं और सांपों से भिन्न हूं—मैं तुम्हारा मित्र हूं ?" तभी किसी लोहे के पाश में उसका फन और मुंह जकड़ गया। कोई उसे अपनी ओर घसीट रहा था। "नहीं, नहीं, मैं आज यहां से नहीं जाऊंगा। मैं तुम्हें अपने निश्चय का विश्वास दिला कर रहूंगा। मैं यह नहीं सह सकता कि तुम मुझे गलत समझते रहो !" उसने मन-ही-मन कहा और अपनी सारी शक्ति से मेज पकड़ ली।

पर जो हाथ उसे खींच रहे थे, वे उससे अधिक सशक्त थे। वह रोता-रिरियाता, मन-ही-मन करुणा की प्रार्थना करता हुआ भी खिंचता चला गया और थोड़ी देर बाद उसने देखा कि उसे एक छोटी सी हंडिया में बन्द कर, बाहर दूर ले जाकर, डाल दिया गया है।

इस घटना के बाद जब उसने फिर समाधि लगा कर भगवान का स्मरण किया, तो उसे एक नए और परम ज्ञान की उपलब्धि हुई। उसने जाना कि हर व्यक्ति जीवन में एक खास पार्ट अदा करने के लिए बना है, जिससे उसे मुक्ति नहीं मिल सकती। अपनी सामाजिक स्थिति के आगे व्यक्ति का निश्चय व्यर्थ है।



पहचान

भीष्म साहनी

कई वार किसी आदमी का पूरा परिचय पाने में वर्षों लग जाते हैं और वर्षों बाद भी आपको यकीन नहीं होता कि आप उसे पूरी तरह जान पाए हैं, या नहीं। मुझे भी एक ऐसा ही विचित्र अनुभव एक स्त्री के सम्वन्ध में हुआ। दो वर्षों के गहरे परिचय के वाद मैं उसे शायद कुछ-कुछ जान पाया था; मगर अव मैं सोचता हूं कि वह पहचान भी एकदम अधूरी थी।

लगभग पांच वर्ष की बात है। तब मैं अम्वाला छावनी में रहा करता था। अव तो अम्वाला वदल गया है, वहां की आवादी बढ़ गई है और सड़कों पर रौनक दिखाई देती है; मगर उन दिनों उसके वड़े-बड़े मैदानों और सपाट लम्वी सड़कों पर केवल फौजी ही घूमते हुए नजर आया करते थे और रात के आठ वजते ही छावनी पर सन्नाटा छा जाया करता था।

इसी अम्वाला छावनी में एक औरत रहा करती थी, जिसे हर उस शख्स ने जरूर देखा होगा, जो उन दिनों अम्वाला में रहा है; क्योंकि वह अकसर सड़कों पर, बगल में हरे रंग की फाइल दबाए, घूमती नजर आती थी। लम्वा-ऊंचा कद, सफ़ेद धुले हुए कपड़े, सीधी चाल और बगल में फाइल। कई लोगों की विलक्षणता उनकी शक्ल-सूरत में होती है और कइयों की वेशभूषा में; मगर उस औरत की विलक्षणता उसके ऊंचे कद और हरी फाइल में थी। यों, न वह युवा थी, न सुन्दरी। जिस वक्त मैंने उसे देखा था, उसकी अवस्था लगभग 40 वर्ष की होगी।

उस औरत को चिट्ठियां लिखवाने का जनून था। छावनी भर में कोई ऐसा बाबू न था, जिससे एक-आध चिटिठयां न लिखवाई हों। खुद वह अनपढ़ थी—एक अक्षर भी न जानती थी—मगर चिट्ठियां लिखवाती और हर चिट्ठी की नकल बड़ी तरतीब से फाइल में लगा लेती। उसकी ये चिट्ठियां निहायत मामूली बातों के बारे में होतीं—बच्चे की फीस माफ करवाने के बारे में, पानी-बिजली के किसी बिल के बारे में, कभी एक जगह से दूसरी जगह अपने तबादले के बारे में।

यह जरूर अनोखी बात थी, मगर इससे भी अनोखी बात यह थी कि बड़े-बड़े अफसरों की कोठियों में वह बेधड़क चली जाती। मैंने खुद उसे कई बार ब्रिगेडियर, कर्नल और एरिया कमाण्डर के घरों में से निकलते देखा था। जरूरी बात है कि जो स्त्री इस कदर आजाद और निडर छावनी में घूमती हो, उसके बारे में तरह-तरह की बातें उठें। कोई कहता, सिफारिशी चिट्ठियां लेने जाती है; कोई कहता, अपनी जवान बेटियों की कमाई खाती है; कोई कहता, किसी अमीर की तीसरी बीवी थी, किसी गांव से खरीद कर लाई हुई और यहां अब फौजी अस्पताल में मामूली सफाई के काम पर नौकर है। लोगों के बारे में अकसर हमारी धारणाएं किंवदन्तियों के आधार पर बनती हैं, इसलिए बाबू लोग उससे सचेत रहते थे। अफसरों के डर से चिट्ठियां तो लिख देते, मगर इससे ज्यादा कोई उससे सरोकार न रखता। मेरा भी उससे परिचय हुआ, मैंने भी उसकी कुछ चिट्ठियां लिखीं और मैं भी लोगों के कहने पर उससे सावधान रहने लगा। शहर के बड़े गिरजे के पीछे, जहां मैं रहता था, उससे थोड़ा हट कर मैदान के पार पेड़ों के झुरमुट के पीछे, एक ओवरसियर के अहाते में उसका क्वार्टर था।

गर्मियों की एक रात की बात है। हम क्वार्टरों के सामने अपनी खाटें बिछाए सो रहे थे, जब गहरी रात गए, ऊंचा-ऊंचा चिल्लाने की आवाजें आने लगीं। हम सब उठ बैठे और यह शोर सुनने लगे। आवाजें ओवरसियर के बंगले की तरफ से आ रही थीं। कुछ लोग तो यह जान कर फिर करवट लेकर सो गए कि यह उसी आवारा औरत

के घर का कोई झगड़ा है; मगर दो एक व्यक्ति अपना कौतूहल मिटाने के लिए, लाठियां उठाए, उस तरफ चल पड़े। मैं भी साथ हो लिया।

आवाजें सचमुच उसी के घर से आई थीं। जब हम वहां पहुंचे, तो वह औरत हाथ हिला-हिला कर कह रही थी—

"मैं एक-एक को दुरुस्त करूंगी—मैं एक-एक को जानती हूं। मैं सबको पहचानती नहीं हूं? मैं कल ही करनैल साहब को चिट्ठी लिखवाऊंगी!"

उस वक्त भी चिट्ठी की बात सुनकर हम मन ही मन हँसे।

चारों ओर अंधेरा था। केवल उसके छोटे से क्वार्टर के सामने बत्ती जल रही थी और उस बत्ती के नीचे वह औरत अपने सामने खड़ी बेटी को हाथ हिला-हिला कर यह सुना रही थी। क्वार्टर के सामने तीन-चार खाटें बिछी थीं, जिसमें से एक पर उसकी लड़की और दूसरी पर एक नौ-दस वर्ष का बालक चुपचाप घबराए से बैठे थे।

हमें देखते ही वह हमारे पास चली आई। ऊंचे स्वर में मुझसे कहने लगी—

"वीर जी,[1] देखा तुमने, यह भी कोई हाल है!"

मालूम हुआ कि यह औरत अपने परिवार सहित क्वार्टर के बाहर सोई हुई थी, जब कुछ फौजी रात का शो देख कर सिनेमाघर से लौटते हुए और शराब के नशे में पहले आवाजें कसने लगे और फिर नजदीक आकर कंकड़-पत्थर फेंकने लगे। मगर जब यह चिल्लाई और गालियां देती हुई उनके पीछे दौड़ी, तो वे वहां से भाग गए।

मैं पहले भी हैरान था कि यह औरत किस प्रकार इस अलग-थलग छावनी में आकर टिकी हुई है। अब मेरे मन में भी खटका पैदा हुआ। अगर फौजी आज आए हैं, तो पहले भी आते होंगे। आखिर, फौजी हर घर पर आवाजें नहीं कसते। मैंने उस औरत की बड़ी लड़की को भी देखा। साधारण-सी लड़की जान पड़ी, मगर कुछ निश्चय न कर पाया कि वहां भी बनावटी क्या है और असल क्या। सबसे अचम्भे

[1]भाई साहब

की बात यह था कि ओवरसियर के बंगले में से कोई भी उठ कर औरत की मदद को न आया था।

हम लौट आए, मगर दूसरे रोज वह उसी तरह अपनी हरी फाइल उठाए, मेरे घर आ धमकी। कहने लगी कि कर्नल रघुवीरसिंह के नाम खत लिख दो। मैं उसके मामले से दूर रहना चाहता था; मगर वह तो मरते आदमी से भी चिट्ठी लिखवा सकती थी। मैंने बहुत आनाकानी की; मगर आखिर खत लिख ही दिया। उसने सारा खत ऐन बाकायदा मुझसे खिलवाया। पांच आदमियों की शिकायत की, एक-एक का नाम, रैंक और कम्पनी लिखवाई। अपनी स्थिति का रोना-धोना लिखा और उन्हें सजा दिलाने की तलब की। साथ ही यह भी लिखवाया कि जो उन्हें सजा न हुई, तो सरकार बदनाम होगी और मैं ब्रिगेडियर साहब तक फरियाद लेकर जाऊंगी।

तीन-चार रोज बाद फिर वह आ पहुंची और एक चेतावनी की उसने लिखवाई। उसके बाद मामला चुप हो गया। फिर महीनों बीत गए और वह मेरे घर नहीं आई। मैंने सोचा, उसे जवाब मिल गया होगा या मुमकिन है, किसी दूसरे से चिट्ठियां लिखवाती फिरती हो।

इस घटना के शायद दो-तीन महीने बाद की बात होगी कि मैं फिर उसके मामले में आ फंसा। और, अब जो कुछ हुआ, उसकी मुझे तनिक भी आशा न थी।

एक रोज सुबह, अभी प्रभात की किरण भी न फूटी थी कि वह मेरे घर आ पहुंची। यों भी उसके आने का कोई वक्त नहीं था। उसे देखते ही मैं असमंजस में पड़ गया कि अब करूं तो क्या करूं। उन दिनों मैं अकेला था। श्रीमती जी मायके गई हुई थीं। मेरे तो प्राण सूख गए कि सुबह होते-होते यह घर के बाहर निकलेगी, तो साथ वाले बाबू क्या कहेंगे। पर चुपचाप वह अंदर चली आई—आंखों में काजल लगाए और लाल दुपट्टा ओढ़े। उसी तरह तेज कदम, हांफती सांस लेती हुई और हाथ हिलाती हुई। अन्दर आकर वह हँसने-मुसकराने लगी। वह औरत देखने में बुरी न थी। किसी जमाने में उसने जरूर उस बूढ़े रईस का दिल अपनी भाव-भंगिमा से गरमाया होगा। मगर उसे अपने घर में

देखकर मेरे पसीना चू रहा था। मैं सोच रहा था कि जब यह क्वार्टर से बाहर निकलेगी, तो मेरा क्या बनेगा। पर वह हंस कर, दुपट्टे का छोर ओंठों पर रखती हुई, बोली—

"वीर जी, तुम तो मिलने से भी रहे। इसी से मैं सुबह-सुबह तेरे घर चली आई। मैंने सोचा, देर हो गई, तो तुम कहीं निकल जाओगे।"

"बात क्या है ?" मैंने रुखाई से पूछा।

'आज मेरी बेटी का ब्याह है। वीर जी, आठ बजे आनन्द कारज होगा। मेरा यहां कौन है ? तुम जरूर आना। तुम ही आकर कन्यादान करोगे।"

मेरी जान में जान आई। उसके बाद वह बार-बार आने का अनुरोध करती हुई उठी और हँसती हुई बाहर चली गई।

वह तो चली गई, मगर मैंने निश्चय कर लिया कि मैं इस ब्याह में नहीं जाऊंगा। पर आठ बजते-बजते मैं दुविधा में पड़ गया। मुझे खयाल आया कि अगर नहीं जाना था, तो पहले ही उसे कह देना चाहिए था। और फिर, वहां जाने मैं कौन सा पहाड़ मुझ पर टूट पड़ेगा ? खैर, आठ बजते-बजते मैं उसके घर जा पहुंचा और उस रोज मैंने उसका जो रूप देखा, वह मैं आज तक भूल नहीं पाया। जो कुछ मैंने देखा, उससे सब सुनी-सुनाई बातें मन पर से धुल-पुंछ गईं और मेरे मन में उस औरत के प्रति आदर फूट पड़ा।

मैं ठीक आठ बजे उसके क्वार्टर पर पहुंच गया; मगर वहां एक भी आदमी नहीं था। क्वार्टर के बाहर जमीन पर दो छोटी-छोटी फटी हुई दरियां बिछी थीं और एक ओर तौलिए से ढकी एक पीतल की परात रखी थी। बस। पानी का छिड़काव तक न हुआ था।

मैं अभी वहां खड़ा ही हुआ था कि अन्दर से ऊंचा-ऊंचा गाने की आवाज आई—"कन्हैया जी आ वड़ियों साडे वेहडे !"[1] मैंने आवाज पहचान ली। यह वही औरत गा रही थी। मुझे देखते ही वह दौड़ी-दौड़ी बाहर चली आई और मेरा हाथ पकड़ कर अन्दर ले गई। सच

---

[1] हे कृष्ण कन्हैया, मेरे आंगन में आओ !

मानिए, इतना गरीब ब्याह मैंने उमर भर में और कभी नहीं देखा था। कमरे के एक कोने में उसकी बेटी, गाढ़े की लाल ओढ़नी ओढ़े, एक टिमटिमाते दीए के सामने चुपचाप झुकी हुई बैठी थी और छोटा भाई कभी दुलहिन की पीठ पर चढ़ता और कभी जहां मां जाती, उसके पीछे हो लेता।

मगर यह औरत वहां इस तरह घूम रही थी, जैसे रिश्ते के बीसियों आदमी वहां आए हुए हों और उसे पसीना पोंछने की भी फुर्सत न हो। कभी सुहाग के गीत गाती, कभी बेटी से हँसी-मजाक करती, कभी गाती हुई अपनी बीमार दूसरी छोटी बेटी के बाल गूंथने लगती। चारपाई के नीचे टीन का एक ट्रंक रखा था। उसे वह मेरे सामने खींच कर निकाल लाई और खोल कर कहने लगी—"देखो वीर जी, बेटी के लिए पीली साटन का सूट बनवाया है। सारे शहर में इस रंग की साटन नहीं मिलती। यह दोहरा खेस है। यह दरी जेलखाने की बनी है! बीस साल तक नहीं फटेगी। यह सब बेटी का दहेज है!"

मैंने सुन रखा था कि जब उस औरत का अपना ब्याह हुआ था, तो घर में तीन रात तक मुजरा हुआ था और शहर के छोटे-बड़े टूट पड़े थे। बेटी का यह दहेज देख कर मेरा जी भर आया।

इतने में एक लड़का भागता हुआ अन्दर आया और बोला कि बरात आ गई। हम लोग बाहर आए और देखा कि सचमुच बरात आई है! मगर न बाजा, न फूल, न कोई चहल-पहल। चार टूटे-फूटे से बराती पैदल चल कर दरी पर आ खड़े हुए थे और उनमें से एक नाटे कद का, काला सा आदमी, उजले कपड़े पहने, गले में हार लटकाए, दूल्हा बना खड़ा था! बस, यही बारात थी।

ब्याह हो गया। एक बूढ़े ग्रन्थी ने, जिसे बराती साथ लेते आए थे, आनन्द कारज करवाया। मैंने निःसंकोच कन्यादान किया। मुंह मीठा करने के लिए परात में से आटे का हलुवा बांटा गया।

पर शादी की कोई ऐसी रस्म न थी, जो उस औरत ने पूरी न की हो। यहां तक कि वर-वधू को इकट्ठा बिठा कर जो पहले शरारत भरे

खेल मित्र-सम्बन्धी करते हैं, उन्हें भी उस औरत ने वर-वधू से कराया, ताकि बेटी के दिल में कोई अरमान बाकी न रह जाए।

वरात लड़की को लेकर लौटने लगी। एक आदमी ने सिर पर ट्रंक उठाया और लड़की अपने पति के पीछे-पीछे, धीरे-धीरे मैदान पार करने लगी। वह औरत अपने एक हाथ से मेरी कोहनी को पकड़े चुपचाप यह सब देख रही थी कि एकाएक मैंने अनुभव किया कि उस स्त्री का हाथ सहसा कांपने लगा है। मैंने मुड़ कर देखा, उसकी आंखों से झर-झर आंसू बह रहे थे। सिसकते-सिसकते वह कहने लगी—"मैं बेचारी क्या जानूं···क्या होगा वीर जी ? लड़का पूरब का है, हम पंजाबी हैं। तुम्हें लड़का पसन्द है, वीर जी ?"

जैसे पीपल का सूखा पत्ता कांपता है, वह औरत थर-थर कांप रही थी। जिस औरत के बारे में मैंने तरह-तरह की अफवाहें सुनी थीं, जो निर्भीक हो लोगों के घरों में घूमा करती थी और एक राक्षसी की तरह चिल्लाती और गालियां देती, फौजियों के पीछे भाग खड़ी होती थी, उसमें मां का इतना कोमल हृदय है, यह देखकर मेरा हृदय उसके प्रति आदर से भर गया। मैंने देखा, वह असहाय महिला न मालूम किन-किन मुसीबतों के सामने अपने परिवार को अपने पैरों के नीचे लिए बैठी है। मेरे सब सन्देह दूर हो गए और जो सान्त्वना मैं दे सकता था, देकर घर लौट आया।

मगर उक्त शादी के दो महीने बाद ही एक दिन वह औरत पकड़ी गई। उसके साथ ही एक फौजी अफसर भी पकड़ा गया। फौजी अफसर मुअत्तल हो गया और उस औरत को चौबीस घण्टे के भीतर अम्बाला छोड़ जाने का हुक्म हुआ। औरत पर चोरी का और अफसर पर चोरी का माल खरीदने का इलजाम था।

मालूम हुआ कि शादी के फौरन बाद उस लड़की के पति का तबादला हो गया और वह दूर झांसी चला गया। लड़की उसके साथ गई। कुछ समय बाद वे दोनों छुट्टी पर अम्बाला आए। अम्बाले की सड़कों पर पहले तो मां ही घूमती थी, अब बेटी भी नजर आने लगी। शोख-भड़कीले कपड़े पहने, लिपस्टिक, काजल और

सुर्खी लगाए, जेवर पहने, वह अम्बाला की सड़कों पर यों घूमती, जैसे किसी नवाब की बेगम हो। लोग कहते, जमादार को उंगलियों पर नचा रही है। जब वापस लौटे, तो रास्ते में एक स्टेशन पर दुलहिन ने शोर मचाना शुरू कर दिया कि उसके जेवर चोरी हो गए हैं। ट्रंक में बाकी सब कुछ मौजूद था, मगर जेवर न थे। जमादार ने बहुतेरा ढूंढ़ा, रिपोर्ट लिखवाई मगर चोर वहां होता, तो पकड़ा जाता। चोरी तो असल में अम्बाले में हुई थी और जेवरों की असल चोर दुलहिन की मां थी। यों चोरी की बात छिपी रहती, मगर उस औरत को रुपयों की तुरन्त जरूरत थी, सो वह जेवर बेचने गई और पकड़ी गई। बाद में मालूम हुआ कि अपनी बीमार छोटी लड़की, यानी दुलहिन की छोटी बहन के इलाज के लिए वह उसी दिन अस्पताल में इन्तजाम करके आई थी और कह आई थी कि शाम तक वह इलाज की पूरी फीस चुका देगी।

इस घटना से शहर में सनसनी फैल गई। हम बाबू लोगों ने तो उसके चले जाने पर चैन की सांस ली। कुछ लोगों को रंज भी था कि उसे जेल क्यों न हुई। जिस रोज उसे शहर छोड़ने का हुक्म मिला, वह मुझसे मिलने आई; मगर दूर से ही उसे आती देख, मैं क्वार्टर के पिछवाड़े की ओर से भाग गया।

मगर उसने मुझे नहीं भुलाया। अभी दस रोज भी न बीते होंगे कि उसका एक खत मुझे मिला। खत अमृतसर से लिखा हुआ था। वह दिल्ली जाना चाहती थी और उसने मुझसे प्रार्थना की थी कि दिल्ली में मेरी कोई जान-पहचान का आदमी हो, तो उसके नाम चिट्ठी लिख दूं। उसने यह भी लिखा कि वह फलां गाड़ी से दिल्ली जाएगी। उस का छोटा बेटा अभी क्वार्टर में ही है। मेरी बड़ी कृपा होगी, यदि मैं उस बच्चे को स्टेशन तक पहुंचा दूं।

इस चिट्ठी का जवाब तो मैंने नहीं दिया, मगर उसके बेटे का स्टेशन तक पहुंचाने की हिम्मत मैंने जरूर की। अब सर्दी का मौसम आ गया था और शाम पड़ते ही अंधेरा छा जाता था। गाड़ी रात के ग्यारह बजे अम्बाला स्टेशन पर पहुंचती थी।

रात के नौ बजे के करीब मैं उसके घर की तरफ गया । क्वार्टर का दरवाजा खुला था, मगर अन्दर गहरा अंधेरा था । मैं ठिठक गया। मगर फिर जी कड़ा करके अन्दर कदम रखा और दियासलाई जलाई। एक कोने में खाट पर बैठा उसका छोटा लड़का ठिठुर रहा था, जैसे भिखमंगे बच्चे बारिश के दिनों में सिकुड़े पड़े होते हैं। मां अपनी बीमार बेटी को लेकर चली गई थी और उसे यहां अकेला छोड़ गई थी। औरत के चले जाने पर बिजली भी काट दी गई थी। पिछले दो सप्ताहों में इस अभागे बालक की सुध किसी ने नहीं ली थी। बच्चे ने मुझे पहचान लिया और कांपता हुआ वह उठ खड़ा हुआ। मैंने दियासलाई की मदद से उसका सामान इकट्ठा किया—एक दरी, आलमारी में दो एक बर्तन और आलमारी के निचले खाने में उस औरत की हरे रंग की फाइल । बस, यही सामान था । जिस किसी तरह मैंने सामान बांधा, खाट को वहीं छोड़ा और हरी फाइल को चादर में लपेट स्टेशन पहुंचा।

स्टेशन पहुंच कर मैंने बच्चे को एक बेंच पर बिठा दिया और खुद लौटने की तैयारी करने लगा, क्योंकि गाड़ी आने में अभी देर थी। मगर बच्चे की दशा देखकर मेरे कदम न उठ सके मैंने, उसे कुछ खाने को ले दिया,जिस पर वह इस तरह झपटा,जैसे कुत्ता सूखी हड्डी पर झपटता है मैं उसके पास ही बेंच पर बैठ गया और उसकी पीठ सहलाने लगा।

धीरे-धीरे मेरे मन में कौतूहल जागा। देखूं तो, इस बोझिल फाइल में क्या है । गाड़ी आने में अभी तक देर थी, सो समय काटने को मैंने उसकी फाइल खोली । वर्षों पहले की चिट्ठियां वहां पर अटकी पड़ी थीं । चिट्ठियां क्या थीं, अर्जियां थीं । कहीं चेतावनी, कहीं शिकायतें। देशनिकाले का नोटिस भी वहां लगा था। एक याचना-भरी दरख्वास्त बेटी को अस्पताल में दाखिल कराने के बारे में भी थी । चिट्ठियां पढ़ता-पढ़ता, मैं दस-बारह वर्ष पहले की चिट्ठियां उलटने लगा। अब जगह-जगह पर नए-नए नाम मेरी नजरों से गुजरने लगे—चम्पा, सावित्री, वीरांवाली, वेदपाल ! मेरे जी में यह जानने की उत्सुकता पैदा हुई कि ये सब कौन हैं और कहां हैं ? मगर उस छोटे बच्चे से वर्षों पहले की बातें पूछना बेकार था ।

गाड़ी आई। एक डिब्बे के दरवाजे पर खड़ी वह लम्बे कद की ग्रौरत हाथ हिला-हिला कर मुझे बुला रही थी। उसने मुझे पहले ही देख लिया था। मैंने आगे बढ़ कर जल्दी से लड़का उसके हवाले कर दिया। बेटा मां की टांगों के साथ चिपट कर फूट-फूटकर रोने लगा। मां ने क्षण भर को उसकी पीठ थपथपाई, फिर उसे उठाकर ऊपर वाली सीट पर बिठा दिया और मुझसे अपना सामान लेने लगी। सब चीजें देकर फाइल उसके हवाले करते हुए मुझसे न रहा गया। मैंने पूछ ही लिया—"सावित्री, वीरांवाली, चम्पा, वेदपाल—ये सब कौन हैं? कहां हैं?"

उसने एकटक मेरे मुंह की तरफ देखा और फिर एक अनूठे ढंग से कहा, जैसे वह मुझसे नहीं, बल्कि अपने आपसे बातें कर रही हो— "मेरे सात बच्चे थे, वीर जी! पांच को तो मैं खा चुकी हूं, मगर इस सबसे छोटे को तो मैं आंच नहीं आने दूंगी। मैं बर्तन मांज लूंगी, मगर इसे छाती से लगाए रखूंगी!"

यह सब कहती-कहती वह सीट की ओर लौट गई और बड़ी देर तक अपने बेटे का मुंह चूमती रही। मेरी आंखें, जो गाड़ी के आने पर उसकी बीमार बेटी को खोज रही थीं, अब उस औरत के चेहरे को देखने लगीं। थोड़ी देर बाद आंखें पोंछती हुई वह वापस आई और उसी स्वगत अन्दाज से, अत्यन्त व्याकुल स्वर में, बोली—"ओह, इसकी भी सांस फूलती है। मैं कहां जाऊं? हे मेरे परमात्मा!"

मगर उसी समय गाड़ी ने दूसरी सीटी दी और वह औरत अकेली एक वीरान शहर से दूसरे वीरान शहर की ओर चल दी!

●

बेबसी का ज्ञान

भैरव प्रसाद गुप्त

रोज की तरह उस दिन सुबह, अपने सात साल के लड़के का हाथ पकड़े, मैं गांव के बाहर बाग में टहलने निकल गया।

पिछली रात खूब वर्षा हुई थी। पत्थर भी गिरे थे। इसलिए हवा बहुत तेज और ठंडी थी। बाग की जमीन रात के गिरे पत्तों, डालों और टहनियों से भर गई थी। पेड़ ऐसे उजड़े से लग रहे थे, जैसे उनकी सारी खूबसूरती ही लुट गई हो। कहीं किसी चिड़िया का भी पता न था। जो बाग सुबह पंछियों के सुहाने चहचहाने से संगीत-मय हो उठता था, वह आज ऐसा वीरान और सुनसान पड़ा था कि उसे देख कर डर-सा लगता था।

मैं लड़के का हाथ एक ओर खींचता हुआ दूसरी ओर मुड़ना ही चाहता था कि एकाएक बाग की ओर से जोर-जोर की टें-टें की आवाज आई।

लड़के ने उधर मुड़कर कहा—"पिता जी, कोई तोता रो रहा है!"

सचमुच तोते की उस टें-टें में रोने का स्वर इतना साफ था कि वह छोटा लड़का भी उसे आसानी से समझ गया। आदमी के रोने में जो दर्द होता है, उससे भी अधिक उस तोते की टें-टें में दर्द भरा था।

"पिता जी, चलिए, देखें, वह कहां पड़ा है।"—लड़के ने यह कह कर मेरा हाथ बाग की ओर खींचा।

टें-टें की आवाज और भी जोर पकड़ती जा रही थी। उस आवाज को लक्ष्य करके ही हम उस दिशा की ओर बढ़े। एकाएक लड़के ने चिल्ला कर कहा—"पिता जी, वह देखिए—उस पेड़ की जड़ में।"

मैंने देखा, तोता चित पड़ा पंख फड़फड़ा रहा था और टें-टें करके चीख रहा था। उस हालत में उसे देख कर मन दुख और दर्द से भर गया। लड़का उसे पकड़ने दौड़ पड़ा।

चिड़ियों को न जाने क्यों, बच्चे बहुत चाहते हैं। मेरा लड़का भी इसी भाव से उसे पकड़ने गया या कुछ और सोच कर, यह मैं उस समय नहीं समझ सका—इसीलिए मैंने उसे रोका भी नहीं।

तोता बुरी तरह घायल था। लड़के को अपनी ओर लपकते देख कर बड़ी ही बेचैनी और बेबसी से उसने उसकी ओर देखा, फिर टें-टें करके चीखते हुए उड़ने के कई असफल जतन किए; पर जरा भी इधर से उधर न हो सका। लड़के ने उसे पकड़ लिया, तो वह और भी जोर से चीख उठा, जैसे उसके प्राण ही निकल रहे हों। उसकी वह चीख इतनी दर्द भरी थी कि मैंने अपने कानों पर हाथ रख लिए।

लड़के ने उसके खून से लथपथ डैने को मेरी ओर करते हुए कहा—"पिता जी, इसके दोनों डैने टूट गए हैं। हम घर ले जाकर इसकी दवा करेंगे। यह अच्छा हो जाएगा न?"

पन्द्रह दिन पहले वह खुद अपना हाथ तोड़ चुका था। दवा से उसका हाथ अच्छा हो गया था। शायद यही बात उस समय उसके दिमाग में थी। यों भी, उसका यह विचार मुझे अच्छा लगा। मैं इनकार न कर सका।

वह उसके शरीर पर धीरे-धीरे हाथ सहलाने लगा, तो थोड़ी देर में उसका चीखना-चिल्लाना बन्द हो गया। उसने पास ही के गढ़े से हाथ में पानी लेकर उसकी चोंच में बूंद-बूंद टपकाया और उसके पंखों का खून भी धीरे-धीरे धो डाला।

(2)

मैंने दवा मंगा दी। लड़का बड़ी मुस्तैदी से तोते की सेवा और देखभाल करने लगा।

तीन महीने में, धीरे-धीरे, उसके डैनों के घाव अच्छे हो गए। पर अब भी वह उड़ न सकता था। लड़के ने कहा—"अब अच्छा हो गया। खाए-पिएगा, तो पंखों में ताकत आ जाएगी। तब तो वह जरूर उड़ सकेगा।"

मैंने कहा—"खिलाओ-पिलाओ। शायद तुम्हारा खयाल ठीक हो।" थोड़े ही दिनों में तोता काफी मोटा हो गया नए-नए पर भी उसके निकल आए। पर वह उड़ न सकता था उसके एक डैने की हड्डी बिलकुल कमजोर हो गई थी।

बिल्ली से उसे सुरक्षित रखने के लिए एक पिंजरा बनवा दिया गया। पहले उसे खांची में ढंक कर ही रखते थे, ताकि दवा लगाने और खिलाने-पिलाने में सुविधा रहे।

एक दिन सुबह जब हम टहलने चले, तो लड़के ने कहा—"आज मैं तोते को भी सैर कराने ले चलूंगा।"

मेरे मन में एक शंका उठ खड़ी हुई। मैंने कहा—"नहीं।"

इस पर उसने पूछा—"क्यों?"

मैंने कहा—"जब तुम्हारा हाथ टूटा था, तो चारपाई पर पड़े-पड़े सहन में लड़कों को खेलते-कूदते देख कर तुम्हारे मन में क्या होता था?"

लड़का मेरी बात शायद समझ न सका, इसलिए जिद में आकर बोला—"नहीं पिता जी, हम तो जरूर ले चलेंगे! यह भी क्या मेरी तरह कोई लड़का है!"

मैंने फिर उसे मना न किया। भोले-भाले पंछी भोले-भाले लड़कों की ही तरह होते हैं, यह बात मैं उसे कैसे समझाता? फिर सोचा, शायद उसी की बात ठीक हो।

बाग में एक बेर के पेड़ पर तोतों का एक झुण्ड किलकारियां भरता बेर कुतर रहा था। उनकी किलकारियां सुन कर पिंजड़े के तोते ने आंखें उठा-गिरा कर ऊपर-नीचे देखना शुरू किया। उसकी नजर बेर के पेड़ पर पड़नी थी कि वह जोर से अपने पंख फड़फड़ाने लगा और चीखने लगा। तोतों ने उसकी आवाज सुनी, तो वे भी चीखने लगे।

मैंने कहा—"बेटा, पिंजड़ा खोल दे। यह चीखना मुझसे नहीं सहा जाता!"

लड़के को मालूम था कि उसका तोता उड़ नहीं सकता। इसीलिए शायद उसकी बेवसी का खेल देखने के लिए उसने पिंजड़ा खोल दिया। तोता आंधी की तरह पिंजड़े से बेर के पेड़ की ओर उड़ा, पर दूसरे ही क्षण तने से टकरा कर चीखता हुआ जमीन पर गिर पड़ा। पेड़ के तोते उसकी वह आवाज सुन कर फुर्र से उड़ गए और वह तोता आसमान की ओर देखता हुआ ऐसे चीख पड़ा, जैसे कड़ी पीड़ा से छुटकारा पाने के लिए आदमी मुक्ति की याचना करता है।

लड़का उसे पकड़ने दौड़ा, तो वह चीखता हुआ ही एक झाड़ी में घुस गया लड़का झाड़ी की ओर बढ़ा, तो मैंने उसे रोकते हुए कहा—"छोड़ दो अब उसे। उसकी यह चीख मुझसे नहीं सुनी जाती! अब शायद उसकी यह चीख मरते दम तक बन्द न होगी।"

लड़का कुछ समझ रहा था, ऐसा कैसे कहूं; फिर भी, मेरी बात मानकर वह सिर लटकाए लौट आया।

उस दिन वह बहुत उदास रहा। बार-बार उस तोते के बारे में मुझसे पूछता रहा। मैंने कहा—मैं यह समझता था, बेटा—इसीलिए तुमसे कहा था कि उसे बाहर न ले जाओ।"

लड़का चुप रहा और जैसे उसे समझाने के लिए मैं कहता चला गया—"जब तक वह घर में था, अपनी आसमान की दुनिया, अपनी आजादी, अपना उड़ना भूला हुआ था। उस समय शायद उसे अपनी बेवसी का भी ज्ञान नहीं था। पर जैसे ही उसने आजाद भाइयों को देखा, उसे अपनी वे सब बातें याद आ गई। एक बार उसने फिर अपनी उस जिन्दगी में जाने की कोशिश की। पर डैनों की बेवसी ने वैसा न करने दिया। उसे अब अपनी बेवसी का ज्ञान हो गया है। अब उस बेबसी की जिन्दगी से छुटकारा पाना उसके बस की बात नहीं—वह मर जाना ही बेहतर समझता है। अब वह जिन्दा नहीं रखा जा सकता, बेटे!"

दूसरे दिन हम टहलने गए, तो देखा, वह तोता झाड़ी के किनारे मरा पड़ा था।

●

गुर

मन्मथनाथ गुप्त

मई के आरम्भ में ही हरीश को जाने क्या सूझा, विस्तरा और सूट-केस लेकर नैनीताल पहुंच गया। अभी तक वहां सभी होटल खाली थे, इसलिए उसे जगह मिलने में कोई दिक्कत नहीं हुई। होटल वालों के चेहरों पर अभी तक गुस्ताखी का वह पुचाड़ा नहीं फिरा था, जो होटलों के भर जाने के बाद स्वाभाविक हो जाता है। हरीश के पास भी काफी समय था और होटल का मालिक सरजूप्रसाद तो निठल्ला था ही।

दोनों अक्सर बातचीत करते थे। हरीश दिल्ली से आया था, इसलिए वह अपने को सभी विषयों का ज्ञाता मानता था। सरजूप्रसाद भी उसके दावे को एक हद तक मानता था। हरीश कहता भी अच्छी बातें था। एक दिन बोला- "टूरिज्म-टूरिज्म कहते हैं, पर करते क्या खाक हैं ? किसी को यात्रियों को आकृष्ट करने का गुर नहीं आता। जो लोग टूरिस्ट विभाग में बैठे हैं, वे तो किसी के सगे होंगे, इसलिए उन्हें कोई फिक्र नहीं। पर जो यात्री विज्ञापनबाजी में फंसकर आ पड़ा, उसकी तो मौत है।"

सरजूप्रसाद मन ही मन हिसाब लगा रहा था कि इस समय कितना मुनाफा हो रहा है, इसलिए उसने अन्यमनस्क ढंग से कहा—'अभी हम लोग पिछड़े हुए हैं। जब हम सभी मामलों में पिछड़े हुए हैं, तो इस काम में पिछड़े रहना कोई आश्चर्य की बात तो नहीं है।"

हरीश बिगड़कर बोला-"यही शिथिलता तो सारी बुराइयों की जड़ है। मुझे तो यहां इस झील के सिवा कोई आकर्षण नहीं मालूम होता। मैं तो

दो हफ्ते की छुट्टी लेकर आया हूं, पर चार दिन में ही तबीयत ऊबने लगी है।"

सरजूप्रसाद बोला—"चाइना पीक जाइए, स्नो पीक जाइए, नाव चलाइए, फ्लैट पर घूमिए, घोड़े की सवारी कीजिए। दिल लग ही जाएगा।"

इसके बाद समतल क्षेत्रों में एकाएक गर्मी तेजी से पड़ने लगी और बेशुमार यात्री आने लगे। अब सरजूप्रसाद का कहीं पता नहीं लगता था यानी रहता तो वह काउण्टर पर ही था, पर कोई न कोई ग्राहक उसके सामने घिघियाता होता था कि उसे जगह मिल जाए। हरीश से कभी चलते-फिरते आते-जाते सलाम-दुआ हो जाती थी, बस।

हरीश की छुट्टियां खत्म हो रही थीं। उसे 8,600 फुट पर स्थित चाइना पीक बहुत पसन्द आया था, इसलिए वह आज फिर वहां जाने की तैयारी कर रहा था। 'शेडीग्रोव' रेस्टोरेन्ट में चाय पीकर जाने का कार्यक्रम था। वह चाय पीता जाता था और रेस्टोरेन्ट में बैठे हुए दूसरे लोगों को ताड़ता जाता था। यों ही, कोई खास मतलब नहीं था। फिर भी, जब उसने चाय की हर चुस्की के साथ इधर-उधर देखा, तो उसे यह सन्देह हुआ कि एक युवती उसे ध्यान से देख रही है। हां, वह बराबर उसे देख रही थी। हरीश ने टाई कड़ी कर ली और चुस्ती से चाय की चुस्की लेने लगा। वह जान-बूझ कर दूसरी तरफ देखता रहा, पर जब फिर उधर दृष्टि दौड़ाई, तो भी वह महिला उसकी तरफ देख रही थी।

उस युवती के साथ एक युवक भी था, जो सम्भवतः उसका पति था। हरीश ने सोचा – यह अजीब बात है कि सुन्दरियों के पति कुछ बुद्धू से होते हैं। इस युवक में भी इस नियम का व्यतिक्रम नहीं हुआ।

हरीश बिना कारण कुछ दुखी हो गया, पर कार्यक्रम तो बना ही हुआ था; इसलिए वह बिल चुकाकर नीचे घोड़ों के अड्डे पर पहुंचा।

अभी वह घोड़ा चुन भी नहीं पाया था कि वही जोड़ी घोड़ों के अड्डे पर पहुंची। उस युवती ने आगे बढ़कर हरीश से कहा—"माफ कीजिएगा, क्या आप चाइना पीक जा रहे हैं?"

हरीश बोला—"हां, और आप लोग?"

"हम लोग भी वहीं जा रहे हैं। चलिए, अच्छा हुआ—साथ रहेगा। आप तो इसके पहले भी गए होंगे... हम तो पहली बार आए हैं।"

हरीश ने कहा—"रास्ता बहुत सीधा है। यहां तो कोई वैसा टेढ़ा रास्ता नहीं है, जैसा कश्मीर में होता है।"

"तो क्या आप कश्मीर भी गए हैं?"

हरीश नम्रतापूर्वक झेंप के साथ बोला—"जी हां, यहां तो बस यही शौक है—हर साल हिमालय की गोद में कहीं न कहीं जाना। बड़ी शान्ति मिलती है।"

तब तक युवती का पति एक घोड़े पर सवार हो चुका था। उसने आवाज दी—"पूर्णिमा! लो, जल्दी करो। अब धूप बढ़ रही है।"

पूर्णिमा के सामने घोड़ा आ गया। वह उस पर सवार हो गई। हरीश भी अपने घोड़े पर सवार हो गया। पूर्णिमा ने हरीश को अपने पति से परिचित कराते हुए कहा—"तुम तो घबड़ा रहे थे कि जाने कैसी जगह होगी; पर यह महोदय पहले भी चाइना पीक जा चुके हैं।"

सूखी हँसी के साथ दोनों का परिचय हुआ। मालूम हुआ कि पूर्णिमा के पति का नाम यादवचन्द्र है।

तीनों साथ साथ बाजार के अन्दर से होते हुए चाइना पीक की तरफ चले। बाजार के अन्दर पहुंचकर पूर्णिमा बोली—"ऊपर चाय-वाय तो मिल जाएगी? कुछ दिक्कत तो न होगी?"

हरीश बोला—"हां, पर वहां पानी नहीं है, इसलिए चाय छः आने प्याली मिलती है। खाने की चीज कोई खास नहीं मिलती है। हां, वह चाय वाला पकौड़ियां बनाता है, जिसे वह मनमाने दाम पर बेचता है।"

यह कह कर हरीश एक दुकान के सामने रुका और उसने एक पैकेट बिस्कुट, मक्खन तथा कुछ अन्य चीजें लीं।

पूर्णिमा का इशारा पाकर यादवचन्द्र भी सामान लेने के लिए उतर रहा था कि हरीश ने अत्यन्त आग्रह के साथ उसे रोका, बोला—"अरे, क्या मैं इतनी चीजें केवल अपने लिए ले रहा हूं? आप लोगों का साथ हुआ, तो कुछ तो सत्कार करना चाहिए।"

पूर्णिमा बोली—"यह बात तो दोतरफा है।"

पर हरीश के अनुरोध पर और कुछ नहीं लिया गया। हरीश बोला—"अभी तो उधर भी खर्च होगा। आप घबड़ाते क्यों हैं ?"

ऊपर चढ़ते समय मालूम हुआ कि यादवचन्द्र का घोड़ा कुछ कमजोर है, इसलिए पूर्णिमा और हरीश बार-बार आगे निकल जाते और जब वे अधिक आगे निकल जाते, तो रुक कर यादवचन्द्र की प्रतीक्षा करते।

उस दिन का वह भ्रमण बहुत आनन्दपूर्ण रहा। अलग होते समय यह तय हुआ कि बाकी द्रष्टव्य स्थान भी साथ साथ देखे जाएं।

घनिष्ठता बढ़ी और हरीश ने दोनों को शनिवार के दिन अपने होटल में खाने पर बुलाया। सरजूप्रसाद से विशेष रूप से कह दिया गया था। जब अतिथि आए, तो स्वयं सरजूप्रसाद देख-रेख के लिए मौजूद था। सब खाने बहुत बढ़िया बने थे और अतिथि बहुत खुश होकर गए।

हरीश का जी इतना लग गया कि उसने अपनी छुट्टी बढ़वा ली और नित्य सैर-सपाटा तथा खाना-पीना एक साथ होने लगा। न हरीश अब सरजू के पास समय काटने जाता और न सरजू के पास ही हरीश के लिए समय था।

आज भीमताल और नौकुचिया ताल का कार्यक्रम था। हरीश अभी उठकर तैयार ही हो रहा था कि इतने में सरजू के साथ पूर्णिमा आई। सरजू कमरा दिखा कर चला गया। पूर्णिमा के लिए चाय आई और वह चाय पीने लगी। आज वह कुछ दुखी थी। हरीश को यह तो पहले ही पता लग चुका था कि वह अपने पति के उजड्डु व्यवहारों से दुखी रहती है। इसके अलावा दो दिन हुए, पूर्णिमा ने हरीश से कहा भी था—"वह बाज वक्त बड़ी मक्खीचूसी कर जाते हैं। यहां आए हैं, तो दिल खोल कर पैसे खर्च करने चाहिए, पर वे तो एक-एक पैसे को दांत से पकड़ते हैं।'

इधर-उधर की बातों के बाद पूर्णिमा बोली—"मैंने बताया नहीं था, उनसे मैं बहुत दुखी रहती हूं। आज तो हद हो गई, बोले कि आज से आपके साथ हम लोगों का कोई सम्बन्ध नहीं। जब मैंने इसका कारण पूछा, तो वे आप पर बरस पड़े और बोले कि वह तो घाघ मालूम होता है। तब मैंने कहा कि कम से कम आज तो चलना ही है, क्योंकि वायदा कर चुके हैं, पर वे बोले—'नहीं, किसी भी हालत में नहीं। तुम या तो उसके साथ जाओ या मेरे साथ रहो।'

"मैं बोली–"यह युग चला गया, जब मनुष्य गुफाओं में रहते थे। उन दिनों स्त्री पति के हाथ की कठपुतली और उनकी बांदी हुआ करती थी। अब वह युग लद गया है। तुम तो सामने ही रहते हो, फिर क्या बात है ?"

"पर वह नहीं माने। तब मैंने अपना सामान दूसरे होटल में रख लिया। अब समस्या है कि क्या करूं ? होटल वाला पेशगी मांगता है, इसलिए मैं अपनी सोने की चूड़ियां आपके पास रखकर रुपए मांगने आई हूं।"

हरीश बोला–"चूड़ियां आप रहने दीजिए, पर यह तो बड़ी अजीब परिस्थिति है। कहिए, तो मैं उनको जाकर समझाऊं।"

पूर्णिमा बोली—"वे तो उसी समय लखनऊ रवाना हो गए। मैं अकेली रह गई।"

हरीश ने कुछ सोचा, फिर उसने रुपये निकाल कर दे दिए।

बोला–'अभी दो सौ लीजिए। कल बैंक से और निकालूंगा, तो दूंगा।'

उस दिन दोनों पूर्व निश्चय के अनुसार भीमताल गए, नौकुचिया ताल में दोनों बड़ी देर तक नाव पर सैर करते रहे। बस तो छूट चुकी थी—बड़ी मुश्किल से वे रात नौ बजे नैनीताल वापस लौटे।

सैर-सपाटे का कार्यक्रम पूर्ववत जारी रहा, पर इधर सिनेमा देखना ज्यादा बढ़ गया। यहां अधिक सिनेमाघर तो थे नहीं, इसलिए सिनेमा एक हद तक ही देखे जा सकते थे। अब पूर्णिमा अकसर सरजूप्रसाद के होटल में ही खाना खाती थी, पर वह हमेशा रात के नौ बजते ही चली जाती थी।

हरीश को नैनीताल में छः हफ्ते से ऊपर हो चुके थे और इस बीच काफी खर्च हो चुका था। इसमें सात सौ की वह रकम भी शामिल थी, जो पूर्णिमा को उधार के रूप में दिए गए थे। सरजू ने भी सात सौ से ऊपर खींच लिया था।

अब हरीश कई बार पूर्णिमा से कहता था—"यह सैर-सपाटा तो चार दिनों का है। भविष्य का कार्यक्रम क्या रहेगा ?"

पर पूर्णिमा कोई स्पष्ट उत्तर नहीं देती थी।

एक शनिवार को सैर-सपाटे के बाद पूर्णिमा बोली—"कल मैं नहीं आ सकूंगी। कुछ जरूरी चिट्ठी-पत्री लिखनी है।

"मैं आ जाऊं ?"—कह कर वह हंसता हुआ बोला—"अरे, मुझे तो अभी तक यह भी पता नहीं कि तुम किस होटल में रहती हो।"

पर पूर्णिमा ने इस तरह मना कर दिया कि हरीश ने फिर उसके यहां जाने की बात नहीं उठाई। वह समझ गया कि पूर्णिमा किसी सस्ती जगह पर ठहरी होगी, इसीलिए वह उसे वहां ले जाना नहीं चाहती।

अगले दिन रविवार था, पर पूर्णिमा के आने की सम्भावना न होने के कारण हरीश देर तक बिस्तरे से ही नहीं उठा। सरजूप्रसाद उसके कमरे के सामने से राउण्ड करता हुआ जा रहा था; अभी तक हरीश को बिस्तरे पर पड़ा देख कर बोला—"आज कोई प्रोग्राम नहीं है क्या ?"

हरीश ने संक्षिप्त रूप से कहा—"नहीं।"

सरजूप्रसाद ने कहा—"मालूम होता है, कोई साथी नहीं है।"

हरीश ने खिन्न होकर कहा—"हां।"

"तो आज लाट साहब के—क्या कहते हैं, राज्यपाल के—भवन की सैर कर आइए। वह बहुत सुन्दर स्थान है और रविवार को ही जनता के लिए खुलता भी है।"

हरीश बोला—"अरे, उसमें क्या होगा ! यहां राष्ट्रपति भवन और प्रधान मन्त्री के भवन को छाने पड़े हैं।"

इस पर सरजूप्रसाद चुनौती के स्वर में बोला—"अजी, आपका राष्ट्रपति भवन तो इसके सामने कुछ नहीं है। यहां के भवन में इतनी जमीन है कि उसमें पांच राष्ट्रपति भवन समा। सकते हैं फिर प्राकृतिक सौन्दर्य,जंगल,बाग-बगीचा और इसके अलावा बहुत भारी गाफकोर्स है।"

सरजू ने गुलमर्ग का गाफकोर्स नहीं देखा था, इसलिए उसने सावधानी के साथ कहा—"राष्ट्रपति-भवन और सारे राज्यों के राज-भवन एक तरफ और नैनीताल का राजभवन एक तरफ।"

हरीश बोला—"इधर यात्रियों को ठहरने की जगह नहीं मिलती और एक-दो व्यक्तियों के लिए इतना बड़ा स्थान रखा गया है ! क्या यही लोकतन्त्र है ?"

सरजूप्रसाद जल्दी में था, बोला—"जाकर देख तो आइए, फिर बहस करिएगा।"

हरीश जल्दी से तैयार होकर चला और घूमते-फिरते राजभवन पहुंच गया। सचमुच जगह बहुत सुन्दर थी। प्रकृति का बहुत मनोरम रूप दिखाई पड़ता था। एक स्थान से दूर तक पर्वतमालाएं दिखलाई पड़ती थीं, मैदान में जो घास लगी थी, वह सचमुच गुलमर्ग की याद दिलाती थी। इसके अन्दर कितनी ही सड़कें और पगडंडियां थीं। किसी ने कहा—"इन सड़कों की कुल लम्बाई साठ मील है।"

हरीश के मन में बहुत सी बातें आ रही थीं—विशेषकर यह बात आ रही थी कि इसमें यात्रियों के लिए एक-एक कमरे वाले दो हजार घर बनाने पर भी इसका सौन्दर्य कायम रह सकता है।

बहुत बड़ी संख्या में लोग पिकनिक करने आए थे, पर हरीश अपने विचारों में डूबा था। एकाएक उसे वहां पूर्णिमा की झलक मिल गई। वह चौकन्ना हो गया। क्या यह भ्रम था ? नहीं, यह पूर्णिमा ही थी और उसके साथ वही यादवचन्द्र। अरे ! वह तो कहती थी कि यादवचन्द्र महीना भर पहले ही चला गया।

हरीश किसी अदृश्य शक्ति के द्वारा परिचालित होकर पूर्णिमा की ओर बढ़ा। पति-पत्नी हंस-हंस कर बातें कर रहे थे, यह देखकर वह बहुत आगे नहीं बढ़ा। वह लौटने ही वाला था कि पूर्णिमा ने उसे देख लिया। एक बार उसका चेहरा फक हो गया, पर तुरन्त ही वह संभल गई और उसने अपने पति से निगाह बचा कर हरीश को इशारा कर दिया कि उधर झुरमुट में खड़े रहो। हरीश ने आज्ञा का पालन किया। थोड़ी देर में पूर्णिमा आई और बोली—"मैंने कल बताया नहीं था कि वे कल फिर आ गए। होटल में तो उनसे बात हो नहीं सकती थी, क्योंकि वह बात-बात में चिल्ला पड़ते हैं, इसलिए आज यहां चली आई। मैं अब उनसे बिलकुल छुटकारा किए लेती हूं। बहुत माफी-वाफी मांग रहे हैं, पर मैं किसी तरह नहीं मानने की। मैं जाती हूं।"

कह कर वह मुसकराती हुई चली गई। हरीश को सारी बात कुछ अजीब मालूम हुई; पर जब उसने गहराई से सोचा, तो उसे मालूम हुआ कि ऐसी सुन्दरी पत्नी के लिए लखनऊ से लौट आना और

माफी मांगना कोई बड़ी बात नहीं है। फिर भी, उसके मन ने कहा कि पूर्णिमा को कल ही उसे सारी बात बता देनी चाहिए थी।

हरीश का मन फिर राजभवन में नहीं लगा और वह सीधे अपने होटल में पहुंचा। संध्या-समय वह पड़ा-पड़ा कुछ पढ़ रहा था, पर उस के कान दरवाजे की ओर लगे थे।

जैसी उसे आशा थी, वैसा ही हुआ। पूर्णिमा आई और बोली—"वह तो बड़ा दुष्ट निकला। कहता है कि अगर मैं उसके साथ न चलूं, तो वह हम लोगों के विरुद्ध व्यभिचार का मुकदमा चलाएगा! इस पर मैंने कहा कि देखो, हम लोगों में प्रेम तो रहा नहीं—अब जो चाहते हो, सो बताओ। तब उसने बहुत घुमा-फिरा कर यह कहा कि एक हजार रुपया लेकर वह हम लोगों का पिंड छोड़ने को तैयार है। किसी तरह मना-मुनू कर मैंने इसे पांच सौ करा दिया। अब आप 'ना' न करिए। इन चूड़ियों को ले लीजिए और पांच सौ रुपए दे दीजिए, ताकि उससे हमेशा के लिए पिंड छूटे। जिन्दा रहूंगी, तो ऐसी चूड़ियां जाने कितनी मिलेंगी।"

हरीश ने चूड़ियां लेने से इनकार किया, बोला—मेरे पास इतने रुपए तो नहीं होंगे।"

पूर्णिमा बोली—"तीन सौ तक हों, तो भी वापस भेज सकती हूं—न होगा उसी को दो-तीन चूड़ियां दे दूंगी। ऐसे समय चूड़ियां काम न आएं, तो कब आएंगी!"

हरीश बोला—"यह तो ब्लैकमेल है......। और एक बार इसके सामने घुटना टेका, तो वह हर छठे महीने आकर आप से रुपए वसूल करेगा।"

"अजी, तब तक मैं कोई काम खोज लूंगी, आप सहायता तो करेंगे ही। अभी तो यह बला टले।"

अन्त में, हरीश ने दो सौ पच्चीस रुपए, जो उसके पास थे, दे दिए और पूर्णिमा अपना छुटकारा कराने के लिए चली गई। यह रुपए देना हरीश को अखरा, पर अन्तिम खर्च के रूप में उसे एक तरह की तसल्ली भी हुई।

अगले दिन पूर्णिमा निश्चित समय पर नहीं आई—यहां तक कि दिन भर नहीं आई। क्या वह दुष्ट फिर भी नहीं माना ?" कहीं वह उसे जबर्दस्ती तो नहीं ले गया। वह आदमी सब कुछ कर सकता है। देखने में बिलकुल कोई दागी मालूम होता है। होटल का भी तो पता नहीं कि जाकर कुछ पता लगाएं।

दो-तीन दिन तक हरीश होटल से बाहर नहीं निकला, तो सरजू उधर से निकलते हुए बोला–"भई, क्या बात है ? अब जी नहीं लगता ?

हरीश बोला—"कुछ ऐसी ही बात है।"

सरजूप्रसाद कुर्सी पर बैठ गया, बोला—"क्या आप लड़की के पीछे इतने परेशान हैं ?"

पहले तो हरीश माना नहीं, फिर उसने सारी बात बता दी और कहा—"होटल का पता होता, तो कुछ पता लगता।"

तब सरजूप्रसाद ठहाका मार कर हंसा, बोला—"अरे ! आप इसी बात पर परेशान हो रहे हैं ? न पति-पत्नी में कोई झगड़ा हुआ है और न वह आपको चाहती ही है। यह सब तो मिली भगत थी। वे हर साल यहां आते हैं और किसी न किसी को फांस कर सारा खर्च निकालते हैं। ऊपर से कुछ ले भी जाते हों, तो कोई ताज्जुब नहीं।"

हरीश उठ कर खड़ा हो गया, बोला–आप को यह सब पता था ?

—पता नहीं था तो क्या ? ऐसे ही होटल चला रहा हूं ?

—मुझे क्यों नहीं बताया ?

—आपको बताता, तो आप दो हफ्ते में ही चल देते; यहां आठ हफ्ते हो गए। आप कहते थे कि यहां वालों को टूरिज्म का गुर नहीं आता। देख लिया गुर ?

हरीश दंग रह गया। उसने उसी समय बिस्तरा बांधा और दिल्ली की ओर चल पड़ा।

●

अपरिचित

मोहन राकेश

कुहरे की वजह से खिड़कियों के शीशे धुंधले पड़ गए थे। गाड़ी चालीस मील की रफ्तार से सुनसान अंधेरे को चीरती चली जा रही थी। खिड़की से सिर सटाकर भी बाहर कुछ दिखाई नहीं देता था। फिर भी, मैं आंख गड़ा कर देखने का प्रयत्न कर रहा था। कभी किसी पेड़ की हलकी-गहरी रेखा ही पास से गुजर जाती, तो कुछ देख लेने का सन्तोष होता। मन को उलझाए रखने के लिए इतना ही काफी था। पलकों में जरा नींद नहीं थी। गाड़ी को न जाने कितनी देर बाद जाकर कहीं ठहरना था। जब और कुछ दिखाई नहीं देता था, तो अपना प्रतिबिम्ब तो कम से कम देखा ही जा सकता था। अपने प्रतिबिम्ब के अतिरिक्त और भी कई प्रतिबिम्ब थे। ऊपर की बर्थ पर सोए हुए व्यक्ति का प्रतिबिम्ब अजब बेबसी के साथ हिल रहा था। नीचे सामने की बर्थ पर बैठी हुई महिला का प्रतिबिम्ब बहुत उदास था। उसकी भारी-भारी पलकें पल भर के लिए ऊपर उठतीं और फिर नीचे झुक जातीं। आकृतियों के अतिरिक्त कई बार नई-नई ध्वनियां ध्यान बंटा लेती थीं, जिनसे भान होता था कि गाड़ी पुल पर से जा रही है या मकानों की पंक्ति के आगे से गुजर रही है। बीच-बीच में सहसा इंजन की सीटी चीख जाती, जिससे अंधेरा और एकान्त और भी गहरे प्रतीत होने लगते।

मैंने खिड़की से सिर हटाकर घड़ी की ओर देखा। सवा ग्यारह बजे थे। सामने बैठी हुई महिला की आंखें बहुत सुनसान थीं।

बीच-बीच में उनमें एक लहर सी आ जाती और विलीन हो जाती। वह जैसे आंखों से देख नहीं रही थी, सोच रही थी। उसकी बच्ची, जो फर के कम्बल में लिपट कर सोई थी, जरा-जरा कुनमुनाने लगी। उसकी गुलाबी ऊन की टोपी सिर से उतर गई थी। उसने दो-एक बार पैर पटके, अपनी बंधी हुई मुट्ठियां ऊपर उठाईं और सहसा रोने लगी। महिला की सुनसान आंखें उमड़ आईं। उसने बच्ची के सिर पर टोपी ठीक कर दी और उसे कम्बल समेत उठा कर छाती से लगा लिया।

मगर इससे बच्ची का रोना बन्द नहीं हुआ। उसने बच्ची को हिला कर और दुलार कर चुप कराना चाहा। फिर भी वह रोती ही रही, तो उसने कम्बल थोड़ा ऊपर उठा कर उसके मुंह में दूध दे दिया और उसे अपने साथ सटा लिया।

मैंने फिर खिड़की के साथ सिर टिका लिया। दूर तक बत्तियों की कतार नजर आ रही थी। शायद वह कोई आबादी थी, या केवल सड़क ही थी। गाड़ी बहुत तेज चल रही थी और इंजन पास होने के कारण कुहरे के साथ धुआं भी खिड़की के शीशों पर जमता जा रहा था। आबादी या सड़क, जो भी थी, अब धीरे-धीरे पीछे छूटती जा रही थी। शीशे में दिखाई देते हुए प्रतिबिम्ब पहले से गहरे हो गए थे। महिला की आंखें बन्द थीं और ऊपर लेटे हुए व्यक्ति की बांह जोर-जोर से हिल रही थी। शीशे पर मेरी सांस के फैलने से प्रतिबिम्ब और धुंधले हुए जा रहे थे, यहां तक कि एक बार सब आकृतियां अदृश्य हो गईं। मैंने जेब से रूमाल निकाल कर शीशे को पोंछ दिया।

महिला ने आंखें खोल ली थीं और एकटक सामने की ओर देख रही थी। उसके ओठों पर हलकी सी मधुर रेखा फैली थी, जो ठीक मुसकराहट नहीं थी। मुसकराहट से बहुत कम व्यक्त उस रेखा में गम्भीरता भी थी और अवसाद भी—वह जैसे अनायास उभर आई किसी स्मृति की रेखा मात्र थी। उसके माथे पर भी हलकी सी सिकुड़न पड़ गई थी।

बच्ची जल्दी ही दूध से हट गई। उसने सिर उठा कर अपना बिना दांत का मुंह खोल दिया और किलकारी मारती हुई मां की छाती पर

मुट्ठियों से प्रहार करने लगी। दूसरी ओर से आती हुई एक गाड़ी तेजी से गुजरी, तो वह जरा सहम गई, मगर गाड़ी के गुजरते ही और भी मुंह खोलकर किलकारी मारने लगी। बच्ची का चेहरा गदराया हुआ था और उसकी टोपी के नीचे से भूरे रंग के हलके-हलके बाल नजर आ रहे थे। उसकी नाक जरा छोटी थी, पर आंखें मां की ही तरह गहरी और फैली हुई थीं। मां के गाल और कपड़े नोच कर उसकी आंखें मेरी ओर घूम गईं और वह बाहें हवा में झटकती हुई मेरी ओर देख कर किलकारियां मारने लगी।

महिला की पुतलियां उठीं और उसकी उदास आंखें पल भर मेरी आंखों से मिली रहीं। मुझे क्षण भर के लिए लगा कि मैं एक ऐसे क्षितिज को देख रहा हूं, जिसमें गोधूलि के सभी हलके गहरे रंग झिलमिला रहे हैं और जिसका दृश्य-पट क्षण के हर शतांश में बदलता जा रहा है।

बच्ची मेरी ओर देख कर बहुत हाथ पटक रही थी, इसलिए मैंने बच्ची की ओर हाथ बढ़ा दिए और कहा—"आ बेटे, आ ......"

मेरे हाथ पास आ जाने पर बच्ची के हाथों का हिलना बन्द हो गया और उसके ओंठ रुआंसे से हो आए।

महिला ने बच्ची के ओंठों को अपने ओंठों से छुआ और कहा—"जा बिट्टू, जाएगी ?"

लेकिन बिट्टू के ओंठ और रुआंसे से हो गए और वह मां के साथ सट गई।

"पराए आदमी से डरती है।"—मैंने खिसियाने स्वर में कहा और हाथ हटा लिए।

महिला के ओंठ भिंच गए और माथे के मांस में खिंचाव आ गया। उसकी आंखें जैसे अतीत में चली गईं। फिर सहसा वे लौट आईं और वह बोली—"नहीं, डरती नहीं। इसे असल में आदत नहीं है। यह आज तक या तो मेरे हाथों में रही है, या नौकरानी के हाथों में!" और, वह उसके सिर पर झुक गई। बच्ची उसके साथ सटकर आंखें झपकाने लगी। महिला उसे हिलाती हुई थपकियां देने लगी। बच्ची ने आंखें

मूंद लीं। महिला उसकी ओर देखती हुई, जैसे चूमने के लिए ओंठ बढ़ाए हुए, उसे थपकियां देती रही। फिर उसने अनायास मुसकरा कर उसे चूम लिया।

"बड़ी अच्छी है, मेरी बिट्टू ! झट से सो जाती है।" उसने जैसे अपने से कहा और मेरी ओर देखा। उसकी आंखों में उल्लास भर रहा था।

"कितनी बड़ी है यह बच्ची ?"—मैंने पूछा—"सात-आठ महीने की होगी……"

"महीना भर बाद पूरे एक साल की हो जाएगी।" वह बोली—"पर यह देखने में अभी छोटी लगती है। लगती है न ?"

मैंने आंखों से उसकी बात का समर्थन किया। उसके चेहरे से अजब विश्वास और भोलापन झलकता था। मैंने उचक कर सोई हुई बच्ची के गाल को जरा सहला दिया। महिला का चेहरा और वत्सल हो गया।

"लगता है, आपको बच्चों से बहुत प्यार है।"—वह बोली—"आपके कितने बच्चे हैं ?"

मेरी आंखें उसके चेहरे से हट गईं। बिजली की बत्ती के पास एक कीड़ा उड़ रहा था।

"मेरे ?"—मैंने मुसकराने की कोशिश करते हुए कहा—"अभी तो कोई नहीं, मगर……"

"मतलब ब्याह हुआ है, अभी बच्चे-अच्चे नहीं हुए।" वह मुसकराई—"आप मर्द लोग तो बच्चों से बचे ही रहना चाहते हैं—है न ?"

मैंने ओंठ सिकोड़ लिए और कहा—"नहीं, यह बात नहीं……"

"हमारे वे तो बच्ची को छूते भी नहीं।"—वह बोली—"कभी दस मिनट के लिए भी उठाना पड़ जाए, तो झल्ला पड़ते हैं। अब तो, खैर, वे इस मुसीबत से छूट कर बाहर ही चले गए हैं…" और सहसा उसकी आंखें छलछला आईं। रुलाई की वजह से उसके ओंठ बिलकुल उसकी बच्ची जैसे हो गए। फिर उसके ओंठों पर मुसकराहट आ गई, जैसा अक्सर सोए हुए बच्चों के साथ होता है। उसने आंखें झपका कर उन्हें

ठीक कर लिया और कहा—"वे डाक्टरेट के लिए इंग्लैंड गए हैं। मैं उन्हें बम्बई में जहाज पर चढ़ा कर आ रही हूं।...वैसे छः या आठ महीने की ही बात है। फिर, मैं भी उनके पास चली जाऊंगी।"

फिर उसने ऐसी नजर से मुझे देखा, जैसे उसे शिकायत हो कि मैंने उसकी रहस्य की बात क्यों जान ली!

"आप बाद में अकेली जाएंगी?"—मैंने पूछा—"इससे तो अच्छा होता कि आप अभी साथ चली जातीं।

उसके ओंठ सिकुड़ गए और आंखें फिर अन्तर्मुख हो गईं। वह कई क्षण अपने में डूबी रही और उसी तरह बोली—"साथ तो नहीं जा सकती थी, क्योंकि अकेले उनके जाने की भी सुविधा नहीं थी। लेकिन उनको मैंने भेज दिया है। मैं चाहती थी कि उनकी कोई तो चाह मुझसे पूरी हो जाए। दीशी को बाहर जाने की बहुत साध थी। अब छः या आठ महीने में अपनी तनख्वाह में से कुछ बचाऊंगी और थोड़ा-बहुत कहीं से उधार लेकर अपने जाने का बन्दोवस्त भी करूंगी।"

उसने अपनी कल्पना में डूबती-उतराती आंखों को सहसा सचेत कर लिया और कुछ क्षण शिकायत की नजर से मुझे देखती रही। फिर बोली—"अभी यह विट्टू भी बहुत छोटी है न—छः या आठ महीने में यह बड़ी हो जाएगी! मैं भी तब तक और पढ़ लूंगी। दीशी की बहुत चाह है कि मैं एम० ए० कर लूं। मगर मैं ऐसी जड़ और नाकारा हूं कि उनकी कोई चाह पूरी नहीं कर पाती। इसीलिए मैंने उन्हें भेजने के लिए अपने सब गहने बेच दिए हैं। अब मेरे पास सिर्फ मेरी विट्टू रह गई है।" और, वह उसके सिर पर हाथ फेरती हुई गर्वपूर्ण दृष्टि से उसे देखती रही।

बाहर वही सुनसान अंधेरा था—वही निरन्तर सुनाई देती हुई इंजन की फक्-फक्। शीशे से आंख गड़ा लेने पर दूर तक वीरानगी ही वीरानगी नजर आती थी।

परन्तु उस महिला की आंखों में जैसे संसार भर की वत्सलता सिमट कर आ गई थी। वह कई क्षण अपने में डूबी रही, फिर

उसने एक सांस ली और बच्ची को अच्छी तरह कम्बल में लपेट कर सीट पर लिटा दिया।

ऊपर की सीट पर लेटा हुआ व्यक्ति खर्राटें भरने लगा था। एक बार वह नीचे गिरने को हुआ, पर सहसा हड़बड़ा कर संभल गया। कुछ ही देर बाद वह और जोर से खर्राटें भरने लगा।

"लोगों को न जाने सफर में कैसे इतनी गहरी नींद आ जाती है !"—वह बोली—"मुझे दो-दो रातें सफर करना हो, तो भी नहीं सो पाती। अपनी-अपनी आदत होती है। क्यों ?"

"हां, आदत की ही बात है।"—मैंने कहा—"कुछ लोग बहुत निश्चिन्त होकर जीते हैं और कुछ होते हैं कि......"

"बगैर चिन्ता के जी ही नहीं सकते !" और, वह जरा हंस दी। उसकी हंसी का स्वर भी बच्चों जैसा ही था। उसके दांत बहुत छोटे-छोटे और चमकीले थे। मैंने भी उसकी हंसी में योग दिया।

"मेरी बहुत खराब आदत है।"—वह बोली—"मैं हमेशा बात-बेबात के सोचती रहती हूं। कभी-कभी तो मुझे लगता है कि मैं सोच-सोच कर पागल हो जाऊंगी। वे मुझसे कहते हैं कि मुझे लोगों से मिलना-जुलना चाहिए, हंसना-बोलना चाहिए, मगर उनके सामने मैं ऐसी गुमसुम हो जाती हूं कि क्या कहूं ! वैस अकेले में भी मैं ज्यादा नहीं बोलती, लेकिन उनके सामने तो ऐसी चुप्पी छा जाती है, जैसे मुंह में जबान ही न हो।......अब देखिए, यहां कैसे लतर-लतर बोल रही हूं !" और, वह मुसकराई। उसके चेहरे पर हलकी सी संकोच की रेखा भी आ गई।

"रास्ता काटने के लिए बात करना जरूरी हो जाता है..."—मैंने कहा—"खास तौर पर, जब नींद न आ रही हो।"

उसकी आंखें पल भर फैली रहीं। फिर वह गर्दन जरा झुका कर बोली—"जिन्दगी कैसे काटी जा सकती है ? ऐसे इनसान में और एक पालतू पशु में क्या फर्क है ? मैं हजार चाहती हूं कि उन्हें खुश दिखाई दूं और उनके सामने कोई न कोई बात करती रहूं, लेकिन मेरी सारी कोशिश बेकार चली जाती है। फिर उन्हें गुस्सा हो आता है और मैं रो

देती हूं। उन्हें मेरा रोना बहुत बुरा लगता है।" कहते-कहते उसकी आंखों में दो बूंद आंसू झलक आए, जिन्हें उसने अपनी साड़ी के पल्ले से पोंछ दिया।

"मैं बहुत पागल हूं।"—वह फिर बोली—"वे जितना मुझे रोकते हैं, मैं उतना ही ज्यादा रोती हूं। दरअसल, वे मुझे समझ नहीं पाते। मुझे बात करना अच्छा नहीं लगता, फिर न जाने क्यों, वे मुझे बात करने के लिए मजबूर करते हैं!" और फिर, माथे को हाथ से दबाए हुए वह बोली—"आप भी अपनी पत्नी से कभी जबर्दस्ती बात करने के लिए कहते हैं।

मैंने पीछे टेक लगा कर कन्धे जरा सिकोड़े और हाथ बगलों में दबाए हुए, बत्ती के पास उड़ते हुए कीड़े को देखा। फिर मैंने सिर को जरा झटक कर उसी ओर देखा। वह उत्सुक आंखों से मेरी ओर देख रही थी।

"मैं?"—मैंने मुसकराने की चेष्टा करते हुए कहा—"मुझे यह कहने का अवसर ही नहीं मिल पाता। मैं तो पांच साल से यह चाह रहा हूं कि वह जरा कम बातें किया करें। मैं समझता हूं कि कई बार इनसान चुप रह कर ज्यादा बात कह सकता है। जबान से कही हुई बात में वह रस नहीं होता, जो आंख की चमक से, या ओंठों के कम्पन से, या माथे की एक लकीर से कही हुई बात में होता है। मैं जब उसे यह समझाना चाहता हूं, तो वह मुझसे पहले विस्तारपूर्वक बता देती है कि ज्यादा बात करना इनसान की निश्छलता का प्रमाण है, और यह भी कि मैं इतने वर्षों में अपने प्रति उसकी सद्भावना को समझ ही नहीं सका। वह, दरअसल, कालेज में लेक्चरर है, और उसे घर में भी लेक्चर देने की आदत है।"

"ओह!" वह थोड़ी देर तक दोनों हाथों में मुंह छिपाए रही; फिर बोली—"ऐसा क्यों होता है, वह मेरी समझ में नहीं आता। मुझे दोशी से यही शिकायत है कि वे मेरी बात समझ नहीं पाते। मैं कई बार उनके बालों को छूकर अपनी उंगलियों से बात करना चाहती हूं, कई बार उनके घुटनों पर सिर रख कर मुंदी हुई आंखों से उनसे कितना-कुछ कहना चाहती हूं; लेकिन उन्हें यह सब अच्छा नहीं लगता। वे

कहते हैं कि यह सब गुड़ियों का खेल है—उनकी पत्नी को जीता-जागता इनसान होना चाहिए।......और मैं इनसान बनने की बहुत कोशिश करती हूं, लेकिन बन नहीं पाती, कभी नहीं बन पाती। उन्हें मेरी कोई आदत अच्छी नहीं लगती। मेरा मन होता है कि चांदनी रात में खेतों में घूमूं, या नदी में पैर डालकर घंटों बैठी रहूं; मगर वे कहते हैं कि ये सब 'आइडिल' मन की वृत्तियां हैं। उन्हें क्लब, संगीत, सभाएं और डिनर पार्टियां अच्छी लगती हैं। मैं उनके साथ वहां जाती हूं, तो मेरा दम घुटने लगता है। मुझे वहां जरा सी भी आत्मीयता प्रतीत नहीं होती। वे कहते हैं कि तू पिछले जन्म में मेंढ़की थी, तभी तुझे क्लब में बैठने की बजाय खेतों में मेंढ़कों की आवाजें सुनना ज्यादा अच्छा लगता है। मैं कहती हूं कि मैं इस जन्म में भी मेंढ़की हूं। मुझे बरसात में भींगना बहुत अच्छा लगता है और भींग कर मेरा मन गुनगुनाने को होने लगता है, हालांकि मुझे गाना नहीं आता। मुझे क्लब में सिगरेट के धुएं में घुट कर बैठे रहना अच्छा नहीं लगता। वहां मेरे प्राण गले को आने लगते हैं।"

उस थोड़े से समय में ही उसके चेहरे का उतार-चढ़ाव मुझे परिचित लगने लगा था। उसकी बात सुनते हुए मेरे हृदय पर हलकी उदासी छाने लगी थी, हालांकि मैं जानता था कि वह कोई भी बात मुझे लक्ष्य करके नहीं कह रही थी—वह अपने से बात करना चाह रही थी और मेरी उपस्थिति उसके लिए एक बहाना मात्र थी। मेरी उदासी भी उसके लिए न होकर अपने लिए ही थी, क्योंकि बात उससे करते हुए भी मैं सोच अपने विषय में ही रहा था। मैं पांच साल से मंजिल-दर-मंजिल विवाहित जीवन में से गुजरता आ रहा था, रोज यही सोचते हुए कि शायद आनेवाला काल जिन्दगी के इस ढांचे को बदल दे। सही तौर पर हर चीज ठीक थी, कहीं कुछ गलत नहीं था; मगर आन्तरिक तौर पर जीवन कितना संकुल और विषमता की रेखाओं से भरा था! मैंने विवाह के शुरू के दिनों में ही जान लिया था कि नलिनी मुझसे विवाह करके सुखी नहीं हो सकती, क्योंकि मैं जीवन में उसकी कोई भी महत्वाकांक्षा पूरी करने में सहायक नहीं हो सकता। वह एक

भरा-पूरा घर चाहती थी, जिसकी वह शासिका हो और ऐसा सामाजिक जीवन चाहती थी, जिसमें उसे महत्व का दर्जा प्राप्त हो। वह अपने से स्वतन्त्र अपने पति के मानसिक जीवन की कल्पना नहीं करती थी। उसे मेरी भटकने की वृत्ति और साधारण का मोह, मानसिक विकृतियां प्रतीत होती थीं, जिन्हें वह अपने अधिक स्वस्थ जीवन दर्शन के बल से दूर करना चाहती थी। उसने इस विश्वास के साथ जीवन आरम्भ किया था कि मेरी त्रुटियों की क्षति पूर्ति करती हुई वह बहुत कुछ शीघ्र मुझे सामाजिक दृष्टि से एक सफल व्यक्ति बनने की दिशा में प्रेरित करेगी। उसकी दृष्टि में यह मेरे वंशगत संस्कारों का दोष था, जो मैं इतना अन्तर्मुख रहता था और इधर-उधर मिलकर आगे बढ़ने का प्रयत्न नहीं करता था। वह इस परिस्थिति को सुधारना चाहती थी, पर परिस्थिति सुधरने की बजाय और बिगड़ती ही गई। वह जो कुछ चाहती थी, वह मैं नहीं कर पाता था और जो कुछ मैं चाहता था, वह उससे नहीं होता था। हम दोनों में अकसर बहस-मुबाहिसा हो जाता था और कई बार दीवारों से सिर टकराने की नौबत आ पहुंचती थी। परन्तु यह सब हो चुकने पर नलिनी बहुत जल्दी स्वस्थ हो जाती थी और उसे फिर मुझसे यह शिकायत होती थी कि मैं दो-दो दिन अपने को उन साधारण घटनाओं के प्रभाव से मुक्त क्यों नहीं कर पाता। परन्तु मैं दो-दो दिन तो क्या, कभी भी उन घटनाओं के प्रभाव से मुक्त नहीं होता था और रात को जब वह सो जाती थी, तो घंटों तकिए में मुंह छिपा कर कराहता रहता था। नलिनी आपसी झगड़े को उतना अस्वाभाविक नहीं समझती थी, जितना मेरे रात भर जागने को। इसके लिए वह मुझे 'नर्व'टानिक लेने की सलाह दिया करती थी। विवाह के पहले दो वर्ष इसी तरह कटे थे और उसके बाद हम लोग अलग-अलग जगह काम करने लगे थे। हालांकि समस्या ज्यों की त्यों वर्तमान थी और जब कभी हम इकट्ठे होते, वही पुरानी जिन्दगी लौट आती थी—फिर भी, नलिनी का यह विश्वास अभी कम नहीं हुआ था कि कभी न कभी मेरे सामाजिक संस्कारों का उद्‍बोध अवश्य होगा और तब हम साथ सुखी रहकर दाम्पत्य जीवन व्यतीत कर सकेंगे।

"आप कुछ सोच रहे हैं ?"—उस महिला ने अपनी बच्ची के सिर पर हाथ फेरते हुए पूछा।

मैं सहसा सचेत हुआ और बोला—"हां, मैं आपकी ही बात सोच रहा था। कुछ लोग होते हैं, जिनसे दिखावटी शिष्टाचार के संस्कार आसानी से नहीं ओढ़े जाते। आप भी शायद उन्हीं लोगों में से हैं।"

"मैं नहीं जानती।" – वह आंखें मूंदकर बोली—"मगर मैं इतना जानती हूं कि मैं बहुत से परिचित लोगों के बीच अपने को अपरचित, बेगाना और विजातीय अनुभव करती हूं। मुझे लगता है कि मुझमें ही कुछ कमी है। मैं इतनी बड़ी होकर भी वह कुछ नहीं जान-समझ पाई, जो लोग छुटपन में ही सीख जाते हैं। दीशी का कहना है कि मैं सामाजिक दृष्टि से बिलकुल 'मिसफिट' हूं।"

"आप भी यही समझती हैं ?"—मैंने पूछा।

"कभी समझती हूं, कभी नहीं समझती।"—वह बोली—"एक खास तरह के समाज में जरूर अपने को 'मिसफिट' अनुभव करती हूं। परन्तु कुछ ऐसे लोग भी हैं, जिनके बीच जाकर मुझे बहुत अच्छा लगता है। ब्याह से पहले मैं दो-एक बार कालेज की पार्टी के साथ पहाड़ों पर घूमने के लिए गई थी। वहां सब लोगों को मुझसे यही शिकायत रहती थी कि जहां बैठ जाती हूं, वहीं की हो जाती हूं। मुझे पहाड़ी बच्चे बहुत अच्छे लगते थे। मैं उनके घर के लोगों से भी बहुत जल्दी दोस्ती कर लेती थी। एक पहाड़ी परिवार की मुझे आज याद आती है। उस परिवार के बच्चे मुझसे इतना घुल-मिल गए थे कि मैं बड़ी मुश्किल से उन्हें छोड़कर उनके घर से चल पाई। मैं दो घण्टे उन लोगों के पास रहती थी। उन दो घण्टों में मैंने उन्हें नहलाया-धुलाया भी और उनके साथ खेलती भी रही। बहुत ही अच्छे बच्चे थे वे। हाय, उनके चेहरे इतने लाल थे कि क्या कहूं ? मैंने उनकी मां से कहा कि वह अपने छोटे लड़के किशनू को मेरे साथ भेज दे। वह हंस कर बोली कि तुम सभी को ले जाओ, यहां कौन इनके लिए तोशे रखे हैं। यहां तो दो साल में इनकी हड्डियां निकल आएंगी—वहां खा-पीकर अच्छे तो रहेंगे। मुझे उसकी बात सुन कर रुलाई आने को हो गई। मैं अकेली होती तो

शायद कई दिनों के लिए उन लोगों के पास रह जाती। ऐसे लोगों में जाकर मुझे बहुत अच्छा लगता है। अब तो आपको भी लग रहा होगा कि कितनी अजीब हूं मैं। वे कहा करते हैं कि मुझे किसी अच्छे मनोविद से अपना विश्लेषण कराना चाहिए, नहीं तो किसी दिन मैं पागल होकर पहाड़ों पर भटकती फिरूंगी............"।

"यह तो अपने-अपने निर्माण की बात है......" मैंने कहा—"मुझे खुद आदिम संस्कारों के लोगों के बीच रहना बहुत अच्छा लगता है। मैं आज तक एक जगह घर बनाकर नहीं रह सकता और न ही आशा है कि कभी रह सकूंगा। मुझे अपनी जिन्दगी की जो रात सबसे ज्यादा याद आती है, वह रात मैंने पहाड़ी गूजरों की एक बस्ती में बिताई थी। उस रात उस बस्ती में एक ब्याह था, इसलिए सारी रात वे लोग शराब पीते रहे और नाचते रहे। मुझे बहुत आश्चर्य हुआ, जब मुझे बाद में बताया गया कि वे गूजर दस-दस रुपये के लिए इनसान का खून भी कर देते थे।"

"आपको सचमुच इस तरह की जिन्दगी अच्छी लगती है?"—उसने कुछ आश्चर्य और अविश्वास के साथ पूछा।

"आपको शायद खुशी हो रही है कि पागल होने की उम्मीदवार अकेली आप ही नहीं हैं!"—मैंने मुसकराकर कहा। वह भी मुसकराई। उसकी आंखें सहसा भावनापूर्ण हो उठीं। उस एक क्षण में मुझे उन आंखों में न जाने कितना कुछ दिखाई दिया—करुणा, क्षोभ, ममता, आर्द्रता, ग्लानि, भय, असमंजस और सौहार्द! उसके ओंठ कुछ कहने के लिए कांपे, लेकिन कांप कर ही रह गए। मैं भी चुपचाप उसे देखता रहा। कुछ क्षणों के लिए मुझे महसूस हुआ कि मेरा मस्तिष्क बिलकुल खाली है और मुझे पता नहीं कि मैं क्या कह रहा था और आगे क्या कहना चाहता था। उसकी आंखों में सहसा सूनापन भरने लगा और आधे क्षण में वह इतना बढ़ गया कि मैंने उसकी ओर से आंखें हटा लीं।

बत्ती के आस-पास उड़ता हुआ कीड़ा उसके साथ सट कर झुलस गया था।

बच्ची नींद में मुसकरा रही थी।

खिड़की के शीशे पर इतनी धुंध जमा हो गई थी कि उसमें अपना चेहरा भी नहीं दिखाई देता था।

गाड़ी की रफ्तार धीमी हो रही थी। कोई स्टेशन आ रहा था। दो-एक बत्तियां तेजी से निकल गईं, तो मैंने खिड़की का शीशा थोड़ा उठा दिया। बाहर से आती हुई बर्फानी हवा के स्पर्श ने जैसे स्नायुओं को सहला दिया। गाड़ी एक बहुत नीचे प्लेटफार्म के बराबर खड़ी हो रही थी।

"यहां थोड़ा पानी मिल जाएगा?"

मैंने चौंक कर देखा कि वह अपनी टोकरी में से कांच का गिलास निकाल कर अनिश्चित भाव से अपने हाथ में लिए हुए है। उसके चेहरे की रेखाएं पहले से ही गहरी हो रही थीं।

"आपको पानी पीने के लिए चाहिए?"—मैंने पूछा।

"हां, कुल्ला करूंगी या पिऊंगी। न जाने क्यों, ओंठ कुछ अधिक चिपक-से रहे हैं। बाहर इतनी ठंड है, फिर भी........."

"मैं देखता हूं। यदि मिल जाए, तो.........."

कह कर मैंने गिलास उसके हाथ से ले लिया और जल्दी से प्लेटफार्म पर उतर गया। न जाने कैसा सुनसान स्टेशन था कि कहीं भी कोई आकृति दिखाई नहीं दे रही थी। प्लेटफार्म पर आते ही हवा के झोंकों से हाथ-पैर सुन्न होने लगे। मैंने कोट के कालर खड़े कर लिए। प्लेटफार्म के जंगले के बाहर से फैलकर ऊपर आए हुए दो-एक वृक्ष हवा में सरसरा रहे थे। इंजन के भाप छोड़ने से लम्बी शूं-शूं की आवाज सुनाई दे रही थी। शायद वहां सिगनल न मिलने की वजह से ही रुक गई थी।

दूर, कई डिब्बे पीछे, मुझे एक नल दिखाई दिया और मैं तेजी से उसकी ओर चला। ईंटों के प्लेटफार्म पर अपने जूते की एड़ियों का शब्द मुझे बहुत अपरिचित-सा लग रहा था। मैंने चलते-चलते गाड़ी की ओर देखा। किसी खिड़की से कोई चेहरा नहीं झांक रहा था। मैं नल के पास जा गिलास में पानी भरने लगा, तभी एक हलकी-सी सीटी देकर गाड़ी एक झटके के साथ चल पड़ी। मैं भरा हुआ

पानी का गिलास लेकर अपने डिब्बे की ओर दौड़ा। मुझे दौड़ते हुए लगा कि मैं डिब्बे तक नहीं पहुंच पाऊंगा और बिना सामान के सर्दी में उस अंधेरे और सुनसान प्लेटफार्म पर मुझे रात बितानी पड़ेगी। मैं और भी तेज दौड़ने लगा। किसी तरह मैं अपने डिब्बे के दरवाजे के बराबर पहुंच गया, तो मैंने देखा कि दरवाजा खुला है और वह दरवाजे के पास खड़ी है। उसने हाथ बढ़ा कर गिलास मुझसे ले लिया। फुटबोर्ड पर चढ़ते हुए एक बार मेरा पैर जरा सा फिसला, पर दूसरे ही क्षण मैं स्थिर होकर खड़ा हो गया। इंजन तेज होने की चेष्टा में हलके-हलके झटके दे रहा था और इंटों के प्लेटफार्म के स्थान पर अब नीचे अस्पष्ट गहराई दिखाई देने लगी थी।

"अन्दर आ जाइए।"—उसके ये शब्द सुन कर मुझे महसूस हुआ कि फुटबोर्ड से आगे भी कुछ गन्तव्य है। डिब्बे के अन्दर कदम रखते हुए मेरे घुटने जरा-जरा कांप रहे थे।

अपनी जगह पर आकर मैंने टांगें सीधी करके पीछे को टेक लगा ली। कुछ क्षण बाद, मैंने आंखें खोलीं, तो मुझे लगा कि वह शायद हाथ-मुंह धोकर आई है। फिर भी, उसके चेहरे पर मुर्दनी छा रही थी। मेरे भी ओंठ सूख रहे थे। फिर भी, मैं थोड़ा मुसकराया।

"क्या हुआ ? आपका चेहरा ऐसा क्यों हो रहा है ?"—मैंने पूछा।

"मैं कितनी मनहूस हूं......" कहकर उसने अपना निचला ओंठ जरा-सा काट लिया।

"क्यों ?"

"अभी मेरी वजह से आपको कुछ हो जाता......"

"वाह ! यह खूब सोचा आपने !"

"नहीं। मैं हूं ही ऐसी..." वह बोली—"जिन्दगी में हर एक को दुख ही दिया है। अगर कहीं आप न चढ़ पाते..........——"

"तो ?"

"तो ?" उसने ओंठ जरा सिकोड़े,—"तो मुझे पता नहीं...पर..."

उसने खामोश रह कर आंखें झुका लीं। मैंने लक्ष्य किया कि उसकी सांस जल्दी-जल्दी चल रही है। उस क्षण मैंने अनुभव किया कि

वास्तविक संकट की अपेक्षा कल्पना का संकट कितना बड़ा और खतरनाक होता है! शीशा थोड़ा उठा रहने से खिड़की से हवा आ रही थी। मैंने खींच कर शीशा नीचे कर दिया।

"आप क्यों गए थे पानी लाने के लिए? आपने मना क्यों नहीं कर दिया?"—उसने पूछा।

उसके पूछने के लहजे से मुझे हँसी आ गई।

"आपने ही तो कहा था!"—मैंने कहा।

"मैं तो मूर्ख हूं, कुछ भी कह देती हूं। आपको तो सोचना चाहिए था।"

"अच्छा, मैं अपनी गलती मान लेता हूं।"

यह सुन कर उसके मुरझाए हुए ओंठों पर भी मुसकराहट फैल गई।

"आप भी कहेंगे, कैसी लड़की है!"—उसने कहा—"सच कहती हूं, मुझे जरा अक्ल नहीं है। इतनी बड़ी हो गई हूं, पर अक्ल अभी बालिश्तभर भी नहीं है। सच!"

मैं फिर हँस दिया।

"आप हँसते क्यों हैं?"—उसने शिकायत के स्वर में पूछा।

"मुझे हँसने की आदत है!"—मैंने कहा।

"हँसना अच्छी आदत नहीं है।"

मुझे इस बात पर फिर हँसी आ गई।

वह शिकायत भरी दृष्टि से मुझे देखती रही।

गाड़ी की रफ्तार फिर बहुत तेज हो गई थी। ऊपर की बर्थ पर लेटा हुआ व्यक्ति सहसा हड़बड़ा कर उठ बैठा और जोर-जोर से खांसने लगा। खांसी का दौरा शान्त होने पर उसने कुछ क्षण छाती को हाथ से दबाए रखा और फिर भारी आवाज में पूछा—"क्या बजा है?"

"पौने बारह।"—मैंने उसकी ओर देख कर उत्तर दिया।

"कुल पौने बारह?"—उसने निराश स्वर में कहा और फिर लेट गया। कुछ ही देर में वह फिर खर्राटे भरने लगा।

"आप भी थोड़ी देर सो जाइए।" वह पीछे टेक लगाए शायद कुछ सोच रही थी या केवल देख रही थी। उसने उसी मुद्रा में यह अनुरोध किया।

"आपको नींद आ रही है, आप सो जाइए।" मैंने कहा।

"मैंने आपसे कहा था न, मुझे गाड़ी में नींद नहीं आती। आप सो जाइए।"

"अच्छी बात है!" और, मैंने विस्तर पर लेट कर कम्बल ऊपर ले लिया। मेरी आंखें देर तक शून्य भाव से वत्ती को देखती रहीं, जिसके साथ झुलसा हुआ कीड़ा चिपक कर रह गया था।

"रजाई भी ले लीजिए। काफी ठंड है।"—उसने कहा।

"नहीं, अभी जरूरत नहीं।"—मैं बहुत से गर्म कपड़े पहने हूं"—मैंने कहा।

"ले लीजिए, नहीं तो बाद में ठिठुरते रहिएगा।"

"नहीं, ठिठुरूंगा नहीं।"—मैंने कम्बल गले तक लपेटते हुए कहा—"और, थोड़ी-थोड़ी ठंड लगती रहे, तो अच्छा रहता है।"

"वत्ती बुझा दूं?"—कुछ क्षण बाद उसने पूछा।

"नहीं, रहने दीजिए।"

"नहीं, बुझा देती हूं—ठीक से सो जाइए।" और, उसने उठ कर बत्ती बुझा दी। मैं काफी देर अंधेरे में छत की ओर देखता रहा। फिर मुझे नींद आने लगी।

शायद रात आधी से अधिक बीत चुकी थी, जब इंजन के भोंपू की आवाज से मेरी नींद खुली। आवाज कुछ ऐसी भारी थी कि मेरे सारे शरीर में एक सिहरन सी भर गई। पिछले किसी स्टेशन पर इंजन बदल गया था।

गाड़ी धीरे-धीरे चलने लगी, तो मैंने सिर थोड़ा ऊंचा उठाया। सामने की सीट उस समय खाली थी। वह महिला न जाने किस स्टेशन पर उतर गई थी। वह इसी स्टेशन पर न उतरी हो, यह सोचकर मैंने खिड़की का शीशा उठाकर बाहर देखा। प्लेटफार्म बहुत पीछे रह गया था और एक बत्तियों की कतार के अतिरिक्त कुछ स्पष्ट दिखाई

नहीं दे रहा था। मैंने शीशा फिर खींच लिया—अन्दर की बत्ती अब भी बुझी हुई थी। बिस्तर में नीचे को सरकते हुए मैंने लक्ष्य किया कि मैं कम्बल के अतिरिक्त रजाई भी ओढ़े हुए हूं, जिसे अच्छी तरह कम्बल के साथ मिला दिया गया है। उष्णता की अनेक सिहरनें एक साथ मेरे शरीर में भर गईं।

ऊपर की बर्थ पर लेटा हुआ व्यक्ति उसी तरह जोर-जोर से खर्राटे भर रहा था।



पारुल

मोहन सिंह सेंगर

मूर्ति की तरह अचल खड़ी पारुल को अपलक दृष्टि से अपनी ओर घूरते देख कर जैसे व्यवस्थापिका का रहा-सहा धैर्य भी जाता रहा और आवेश में अपनी कुर्सी पर से उठते हुए उन्होंने डपटने के स्वर में कहा—"अरी ओ हतभागिनी, सुना कान खोल कर, मैंने क्या कहा ? मैं तुझसे कह रही हूं, तुझसे; दीवार से नहीं।"

पर इस आक्रोश का भी जैसे पारुल पर कोई असर न हुआ। वह उसी तरह खड़ी-की-खड़ी आंखें फाड़े व्यवस्थापिका को देखती रही। न उसके मुंह से एक भी शब्द निकला और न उसके चेहरे का भाव ही बदला। इस पर व्यवस्थापिका की बत्तीसी भिच गई और अन्य कोई उपाय न देख उन्होंने मेज पर पड़ा रूल उठाया और उसे मजबूती से पकड़ कर पारुल की ओर बढ़ते हुए कहा—"ठहर चुड़ैल कहीं की, आज तुझे इस अवज्ञा और ढिठाई का मजा चखाती हूं।"

इस पर भी पारुल जहां की तहां, ज्यों की त्यों, खड़ी ही रही। ज्यों ही चण्डिका का रूप धारण किए व्यवस्थापिका उसके पास पहुंची कि देखा उसके पीछे ही दरवाजे के बाहर एक स्त्री और एक पुरुष खड़े हैं। व्यवस्थापिका को देखते ही उन्होंने नमस्कार किया और पूछा —"आप ही हैं इस कैम्प की व्यवस्थापिका श्रीमती सुजाता देवी ?"

व्यवस्थापिका ने हाथ के रूल को पीठ पीछे छुपाते और चेहरे पर आक्रोश की जगह अनुनय का कृत्रिम भाव लाते हुए कहा—"हां, हां,

आप भीतर आइए। अच्छा, बेटी पारुल,अब तुम जा सकती हो; मैं तब तक इन लोगों से बातें करती हूं।''

इस बार पारुल मानो कुछ पिघली। घृणा, क्रोध और वितृष्णा-भरी एक कड़ी नजर उसने गिरगिट की तरह रंग बदलने वाली व्यवस्थापिका के चेहरे पर डाली और एक झटके के साथ गर्दन मोड़ कर तेजी से कैम्प के बरामदे की ओर चली गई। न कुछ कह कर भी जैसे वह बहुत-कुछ कह और कर गई थी पर इस समय इस पर गौर करने का मौका न था, सुजाता देवी के लिए।

व्यवस्थापिका ने आगन्तुकों को आदरपूर्वक कुर्सियों पर बिठाया और एक बड़ी मेज के पीछे रखी अपनी कुर्सी पर बैठते हुए बोलीं—"कहिए, कैसे कृपा की आप लोगों ने ?''

आगन्तुक पुरुष ने कहा—"मुझे शरणार्थी पुनर्वास कमिश्नर ने आपके पास भेजा है। बात यह है कि हम लोगों को, केवल दो प्राणियों की, एक छोटी-सी गृहस्थी है। कोई सन्तान नहीं है। (पास बैठी स्त्री की ओर इशारा करके) इनकी तबीयत खराब रहती है। हम लोग चाहते हैं कि यदि आपके कैम्प में कोई ऐसी सुशील लड़की हो, जो उनकी देख-रेख कर सके और घर-गृहस्थी का काम भी सम्हाल सके तो नौकर नहीं, बल्कि परिवार के एक सदस्य के रूप में ही हमारे घर में उसके लिए स्थान हो सकता है।''

"यह तो बड़ा अच्छा विचार है। आप वैसे हैं कहां के और यहां करते क्या हैं ?''

"मैं पूर्वी बंगाल का हूं और यहां एक सरकारी अफसर हूं। हजार रुपए मासिक के लगभग आय है। फिर कैम्प से तो हमारे घर में उसे अधिक ही सुख मिलेगा।''

"क्यों नहीं, जरूर।''

"पर लड़की होनी चाहिए ब्राह्मण, क्योंकि इनको हर किसी के हाथ का खाने में जरा परहेज है।''

"हां, हां, वह तो ठीक ही है। अच्छा, तो आप जरा बैठिए, मैं अभी एक मिनट में आई।''

यह कह कर व्यवस्थापिका कैम्प में चली गई। स्त्री ने पति से पूछा—"अभी जो लड़की यहां खड़ी थी, यह कैसी रहेगी ? देखने में तो कुछ बुरी नहीं लगी मुझे वह।"

पति को भी दरअसल वही लड़की कुछ ठीक लगी थी; पर मानो इतना जल्द वे अपने आपको उघाड़ कर नहीं रखना चाहते हों, अतः बोले—"एक वही लड़की थोड़े ही है इस कैम्प में। अभी कुछ औरों को भी देखो, बात करो, समझो, व्यवस्थापिका का मत भी लो, तब निर्णय करना। तुरत-फुरत निश्चय करके फिर मुझे दोष दिया, तो अच्छा न होगा; समझीं ?"

स्त्री ने केवल मुस्करा-भर दिया।

इसी समय व्यवस्थापिका पारुल को साथ लिए लौटीं। उसे आगन्तुकों के सामने खड़ा कर बड़े प्रेमिल स्वर में उन्होंने कहा—"यही वे भद्र दम्पति हैं, बेटी। इन्हें नमस्कार करो।

पर नमस्कार न कर पारुल पत्थर की मूर्ति की तरह खड़ी, उन्हें देखती भर रही। उसके चेहरे पर शून्यता का एक अटपटा-सा भाव था, विनय या नम्रता का नहीं। आगन्तुक इससे कुछ अन्यथा न समझें, अतः स्थिति को सम्हालने की गरज से व्यवस्थापिका ने कहा—"लड़की है तो बड़ी सुशील, पर है बड़ी ही संकोचशील। मैंने इसे सब कुछ बता-बुझा दिया है।"

पुरुष ने आत्मीयता के स्वर में कहा,—जरा हमारे पास आओ, बेटी ! तुम्हारा नाम क्या है ?"

पर इस बार भी पारुल जहां की तहां खड़ी रही। चट से व्यवस्थापिका ने फिर कहा—"इसका नाम है पारुलबाला दासी। अहा ! कैसा सुन्दर नाम है।"

पुरुष ने पारुल की ओर देखते हुए कहा—"हां, नाम तो बड़ा सुन्दर है। लड़की भी समझदार मालूम पड़ती है। हमारे साथ चलोगी न बेटी ?"

फिर व्यवस्थापिका ने ही पारुल की ओर से चट से कहा—"हां, हां, चलेगी क्यों नहीं ? भला ऐसा घर इसे और कहां मिलेगा ?"

अभी पुरुष कुछ कहने को ही जा रहा था कि मूर्ति बनी खड़ी पारुल के केवल होंठ हिले और एक दृढ़ कर्कश स्वर में उसने पूछा—"पर क्या आप मुझे अपने यहां रख सकेंगे ?"

पुरुष ने एक क्षण अपनी स्त्री की ओर देखा और फिर जैसे दोनों की ओर से बोलते हुए पारुल को सम्बोधित करके कहा—"हां, हां अवश्य। इसीलिए तो हम लोग आए हैं। तुम हमारे परिवार की एक तीसरी सदस्या होगी, नौकरानी नहीं।"

"वह तो ठीक है," उसी दृढ़ता से पारुल ने कहा—"पर पहले कुछ बातों पर विचार कर लीजिए। पहली तो यह कि मैं ब्राह्मण नहीं, कायस्थ हूं। धनाभाव के कारण पिता मेरा विवाह नहीं कर पाए। इसी बीच पिछले दंगों में उनकी हत्या हो गई और मुझे कुछ दिन एक मुसलमान के घर रहना पड़ा। मैं आपसे छुपाना नहीं चाहती कि मुझे भ्रष्ट किया गया—पहले अपहरणकर्ता मुसलमान द्वारा और फिर एक शरणदाता हिन्दू द्वारा और पिछले ग्यारह महीनों से तो मैं यहां हूं।"

यह सुन पुरुष तो कुछ असमंजस में ही पड़ा, पर स्त्री एकदम हतप्रभ-सी हो गई। उसकी मुख-मुद्रा देखकर पुरुष ने व्यवस्थापिका की ओर मुखातिब होकर कहा—"सब बातें हमने जान लीं। अब इस पर विचार कर हम लोग अपने निर्णय की सूचना आपको कल-परसों दे देंगे।"

"हां, हां, कोई जल्दी थोड़े ही है"—व्यवस्थापिका ने कहा। दोनों ने कुर्सियों पर से उठते हुए एक नजर पारुल पर डाली और फिर व्यवस्थापिका को नमस्कार कर चले गए।

व्यवस्थापिका ने क्रोध-भरी एक टेढ़ी नजर से पारुल को देखा और खीज कर बोला—"पता नहीं, तू मेरी पूर्व जन्म की बैरन है या और कुछ। मैं तेरी भलाई के लिए जो कुछ करती हूं, तू उस पर इसी तरह पानी फेर देती है। आखिर यह सब उससे कहने की क्या जरूरत थी ?"

"इसलिए कि बाद में मैं कुत्ते की तरह दुत्कारी न जाऊं। आप झूठ बोल कर अपने कार्य में सफलता अर्जन कर सकती हैं, मैं नहीं।" और तेजी के साथ पारुल दफ्तर के कमरे से बाहर चली गई।

(2)

ज्यों ही नीहार बाबू ने घर में प्रवेश किया, पारुल उन्हें दरवाजे पर ही खड़ी मिली—मानों उनकी प्रतीक्षा ही कर रही हो। उनका चेहरा खिल सा गया। अभी वे कुछ कहने ही जा रहे थे कि पारुल ने दोनों हाथ आगे बढ़ाते हुए कहा—"लाइए अपना कोट, हैंगर पर टांग आऊं।"

"ओ हां," जैसे खोए हुए से नीहार बाबू ने कहा और कोट उतार कर पारुल को देते हुए बोले—"देखता हूं घड़ी चाहे अनियमित हो जाय; पर तुम्हारे कानून-कायदों में जरा भी फर्क नहीं पड़ सकता। अच्छा पारुल, एक बात बताओगी?"

"क्या?" लापरवाही से कोट को हैंगर पर टांग कर नीहार बाबू की ओर लौटते हुए पारुल ने पूछा।

"यही कि तुम तो ठहरीं निरी देहात की लड़की, तुमने भला यह सब नियम-कायदे कहां सीखे?"

"तो आपके ख्याल से कर्तव्य का बोध और ढंग से रहने का प्रमाण-पत्र सिर्फ शहरों में पैदा होने या रहने से ही मिल सकता है?"

"सो तो नहीं, पर———"

बीच ही में बात काट कर पारुल ने खाने की मेज की ओर बढ़ कर एक प्लेट पर ढकी बड़ी प्लेट उठाते हुए कहा—"पर-वर कुछ नहीं, पहले आप यह जलपान कीजिए। मैं तब तक चाय का पानी ले आती हूं।" यह कह कर पारुल बिना नीहार बाबू की स्वीकृति की प्रतीक्षा किए ही कमरे से बाहर चली गई।

नीहार बाबू एक अज्ञात पुलक से भर कर खाने की मेज पर जा बैठे और एक-एक चीज उठा कर खाने लगे। इन चीजों में आज जैसे एक नया-सा स्वाद था।

नीची आंखें किए पारुल चाय की केटली लेकर आई और उसे मेज पर रख कर ज्यों ही जाने को हुई, नीहार बाबू ने कहा—"पारू, यह मिठाई और नमकीन कहां से मंगवाए हैं? बड़े स्वादिष्ट हैं।"

कुछ सकुचा कर पारुल ने कहा—"बस, अब मेरी हँसी न उड़ाइए। आज कोई बाजार जाने वाला था नहीं, इसलिए जैसा कुछ भी मैं जानती थी, घर पर ही बना लिया।"

"बस, बस ! इस झूठे संकोच और औपचारिकता को छोड़ो। कल से तुम घर ही में सब चीजें बना लिया करना। तुम तो जान पड़ता है, पाकशास्त्र में भी पारंगत हो।"

पारुल सचमुच लजा गई थी, यह उसके गालों पर दौड़ आई क्षणिक लाली से स्पष्ट था। उसने इससे भी अच्छे-अच्छे पकवान बना-बना कर अपने बूढ़े बाप को खिलाए थे; पर बेचारा वह निर्धन बूढ़ा पारुल के हाथ की बनी चीजें खाते समय भी उनके स्वाद से अधिक उसके हाथ पीले करने की चिन्ता में ही खोया रहता था। कभी उसके मुंह से भूल कर भी एक शब्द तक पारुल की बनाई चीजों की प्रशंसा में नहीं निकला। और पारुल भी जैसे ऊंट के मुंह में जीरा दे-देकर प्रशंसा की उपेक्षा से उदासीन हो गई थी। उसका कोमल मन भी अपने विवाह की चिन्ता में घुलते-घुलते बाप को देखकर जैसे पथरा गया था।

पारुल को विचार-मग्न देख कर नीहार बाबू ने चाय ढालते हुए कहा—"तुम किस सोच में पड़ गईं, पारु ?"

"कुछ भी तो नहीं," अपनी आंखों में चमक आए आंसुओं को छुपाने के लिए मुंह दूसरी ओर फेरते हुए पारुल ने कहा—"सोच रही थी कि जाकर शाम के खाने का इन्तजाम करूं।"

"अभी से शाम का खाना ? इतनी जल्दी क्या है भला ?"

"जल्दी का कारण है।"

"वह क्या, सुनूं भला ?"

"आज गृहस्वामी की वर्षगांठ है, इसलिए कुछ खास चीजें बनानी हैं।"

नीहार बाबू को खुशी से एकबारगी जैसे रोमांच हो आया। गद्गद कंठ से उन्होंने कहा—"पगली कहीं की ? पर तुमने कैसे जाना कि मेरा जन्म-दिन आज है ? मुझे तो खुद भी याद नहीं।"

दबे हुए स्वर में पारुल ने कहा—"बैठक में आपका जो विश्व-

विद्यालय का उपाधि-पत्र टंगा है, उससे मालूम हुआ। सोचा, आप बहुत उदास और चिन्तित रहते हैं, सो आज इसी बहाने आपको एक 'सरप्राइज' दूं।"

"क्या कहा 'सरप्राइज' ?" नीहार बाबू मानो कुर्सी से उछल पड़े—"तो तुम अंग्रेजी भी पढ़ी हो ?"

"वही सामान्य, घर पर रह कर; ज्यादा नहीं।" और बिना नीहार बाबू के कुछ कहने की प्रतीक्षा किए ही पारुल वहां से चली गई।

नाश्ता खत्म कर नीहार बाबू पत्नी के कमरे में पहुंचे। देखा, वह गुम-सुम बैठी छत की ओर देख रही है। नीहार बाबू के कमरे में प्रवेश करने पर भी उसकी आंखें छत से हटी नहीं—मानो उनके आने का आभास उसे हुआ ही न हो। नीहार बाबू उसकी आदत से सुपरिचित थे, अतः उन्होंने ही अपना रोज का प्रश्न दोहराया—"कैसी तबीयत है, बेला ?"

बेला ने कोई उत्तर नहीं दिया। इस पर नीहार बाबू ने फिर पूछा—"मैं पूछ रहा हूं तुम्हारी तबीयत कैसी है ?"

बिना छत पर से अपनी दृष्टि हटाए बेला बोली—"जैसी इस घर में होनी चाहिए, वैसी ही है। अब फुरसत मिली है आपको मेरी तबीयत का हाल पूछने की ?"

"अभी ही तो आ रहा हूं। दफ्तर से आकर नाश्ता किया और बस इधर चला आया।"

"बस, बस, रहने दीजिए। झूठ मत बोलिए मेरे सामने अब।"

"झूठ ? कैसा झूठ ? मैं समझा नहीं।"

"समझेंगे कैसे, दीदे जो बन्द हैं।"

"क्या मतलब तुम्हारा ?

गर्दन में एक झटका-सा देकर बेला ने अपनी रुआंसी आंखें पति की ओर करके कहा—"दफ्तर से लौटे आपको काफी देर हुई। पर उस लाडली से घुसुर-फुसुर हंस-हंस कर बातें करने से फुरसत मिले, तब तो कोई मेरी तरफ देखे। पहले दफ्तर से 1-2 बार फोन करके मेरी तबीयत का हाल पूछा करते थे और आते ही मेरे सिरहाने बैठ जाते थे। अब

जब से वह चुड़ैल आई है, जैसे मेरी कोई परवाह ही नहीं आपको। तबीयत तो मेरी खराब है, पर वह लाडली आई है, जैसे आपकी देख-रेख के लिए। और आप भी.........''

''बेला !'' डपटने के स्वर में बेला की बात काटते हुए नीहार बाबू ने कहा—''तुम शायद होश में नहीं हो। तुम्हें नहीं मालूम कि तुम यह क्या अनाप-शनाप बक रही हो।''

''मैं तो खूब होश में हूं, आप अपने होश की दवा कीजिए।'' बेला ने व्यंग्यपूर्ण स्वर में कहा—''इससे तो अच्छा है कि आप दोनों मिल कर मुझे मार ही डालें और फिर चैन-आराम से रहें।''

''बेला !'' नीहार बाबू के स्वर और चेहरे से जैसे क्रोध फूट पड़ा। तेजी से वे कमरे में इधर-उधर टहलने लगे। टहलते-टहलते उन्होंने बेला के पलंग के पास रखी तिपाई पर रखे प्याले पर ढकी प्लेट को उठा कर देखा और बोले—''यह साबूदाना आज भी नहीं खाया तुमने ?''

बेला चुप रही। इस पर उन्होंने फिर डपट के स्वर में पूछा—''मैं पूछता हूं कि यह साबूदाना क्यों नहीं खाया तुमने ?''

''खाती कैसे ? इसे तो कोई जानवर भी न खाएगा। कोई ढंग से बना कर दे, तब तो खाऊं। कभी कहती हूं कि पतला बनाना, तो गाढ़ा जमा कर रख देती है। कभी कहती हूं कि मीठा बनाना, तो नमकीन बना कर रख देती है। आज मुंह फीका-फीका-सा हो रहा था, सो मैंने कहा कि आज साबूदाना मीठा बनाना। पर रानी जी मेरी बना पर क्यों ध्यान देने लगीं भला। 1-1½ बजे तो बनाया और उसमें भी जलन के मारे नमक-ही-नमक भर दिया।''

अभी नीहार बाबू कुछ कहें, इससे पहले ही दूसरी तरफ के दरवाजे का परदा हटा कर पारुल ने कहा—''छिः छिः इतनी छोटी-सी-बात के लिए आप व्यर्थ क्यों झूठ बोल रही हैं, दीदी ! साबूदाना तो मैंने आपको ठीक दस बजे ही बना दिया था। और वह नमकीन नहीं आपकी फर्माइश के मुताबिक मीठा ही बनाया गया। पर मुझसे बदला लेने के लिए आपने उसे छुआ और चखा तक नहीं।'' यह कह हटा हुआ परदा छोड़ कर पारुल वहां से चली गई।

बेला कुछ कहे, इससे पहले ही नीहार बाबू ने साबूदाने के प्याले में से एक चम्मच भर कर अपने मुंह में डाला और उसे खाकर बोले—"बहुत नमक भरा है न इसमें! पता नहीं, ऐसी झूठी औरत से कैसे पार पाया जाए।" और फिर अधीर-से तेजी से कमरे में टहलने लगे।

बेला सिसकने लगी। कमरे के दमघोटू वातावरण में और अधिक ठहरना मानो नीहार बाबू के लिए असम्भव हो गया। तेजी से वे कमरे से बाहर हो गए।

(3)

आज 12 बज जाने पर भी नीहार बाबू को नींद नहीं आ रही थी। जब-तब वे घड़ी देखते, करवट बदलते, आंखें मूंदते और खोलते—पर नींद नहीं आई। अभी-अभी एक पुस्तक पढ़ने का असफल प्रयत्न कर उन्होंने उसे बन्द कर अलग रख दिया था। शरीर उनका बड़ा शिथिल और थका-सा था; पर दिमाग की सारी नसें जैसे तन रही थीं और वह बीसियों घोड़ों की शक्ति से किसी अज्ञात लोक में उड़ा जा रहा था।

ऐसी अवस्था उसकी पहले तो कभी नहीं हुई थी। फिर आज क्यों हो रही थी, ऐसा सोचते-सोचते वे असलियत के पास पहुंचते-पहुंचते मानो आंखें बन्द कर लौट पड़ना चाहते थे। पर आदमी सब से दूर भाग सकता है, अपने आप से नहीं। अपने आपको कोई धोखा नहीं दे सकता। आखिर परेशान होकर वे पलंग पर से उठ खड़े हुए और बत्ती जला कर कमरे में टहलने लगे। उनकी सांस तेजी से चल रही थी और ललाट पर पसीना झलकने लगा था। वे अपने आपको सम्हाल नहीं पा रहे थे।

आखिर कमरे का दरवाजा खोल वे बाहर बरामदे में आए और वहां की बिजली जलाई। देखा, दो बोरों पर एक गुदड़ी फैलाए गुड़ी-मुड़ी हुई पारुल लेटी है। पर ज्यों ही उनकी आंखें मैले तकिये पर रखे उसके सिर की ओर गईं, वे यह देख कर अवाक रह गए कि पारुल जाग रही है और उसकी दोनों आंखों से आंसू जारी हैं। एक आह उनके होठों तक आकर मानो रुक गई। जीवन और यौवन का यह विरल वरदान क्या तिल-तिल कर यों छीजने के लिए ही है?

नीहार बाबू को देखते ही हड़बड़ा कर पारुल उठ बैठी और धोती का पल्ला सिर पर लेती हुई बोली—"अरे आप ! और इस समय ?"

"हां, मैं पारुल," कह कर उसके पास बैठते हुए नीहार बाबू ने कहा—"दुश्चिन्ता के मारे मुझे नींद नहीं आ रही, पारुल ! इसीलिए इधर चला आया ।"

"दुश्चिन्ता ?" आंखें पोंछते हुए पारुल ने पूछा—"कैसी, किस बात की दुश्चिन्ता ।"

"यही बताता हूं, पारू ! कई दिन से सोच रहा था कि तुमसे सारी बातें स्पष्ट ही क्यों न कर लूं । अच्छा हुआ, जो तुम जगती हुई मिल गईं, नहीं तो शायद आज भी यह बात स्थगित ही रहती ।"

आंखें फाड़ कर नीहार बाबू की ओर देखते हुए पारुल ने पूछा—"कौन सी बात ?"

पारुल की आंखों से आंखें मिला कर देखने का साहस जैसे नीहार बाबू में न हो, उन्होंने दृष्टि नीची कर कहा—"आज बेला ने तुमसे जो कुछ कहा, उसके लिए मैं शर्मिन्दा हूं और तुमसे क्षमा मांगता हूं । मेरे और तुम्हारे बारे में उसका सन्देह तो निर्मूल जरूर है, पर डाह नहीं; क्योंकि वह देख-समझ रही है कि तुमने आकर मेरे मरु-से वीरान और जलते हुए जीवन में नव वसन्त की एक कोंपल खिला दी है । तुमने एक बहुत बड़ी हद तक बेला का स्थान ले लिया है और जीवन का सूनापन भर दिया है । इससे तुम्हारे प्रति मेरा अनुराग स्वाभाविक है । पर इससे अधिक कुछ नहीं । मैं अभी भी हृदय से बेला को प्यार करता हूं और उसके प्रति पूरा वफादार हूं । पर वह सन्देह के कारण पागल हो गई है । उसने जान-पहचान के सब लोगों में यह बात फैला दी है कि मेरा तुमसे अनुचित सम्बन्ध है । हमारे देश में लोग ऐसी बातों के लिए न सिर्फ हमेशा कान ही खोले बैठे रहते हैं, बल्कि सहज ही विश्वास भी कर लेते हैं । कल हमारे बड़े अफसर ने भी मुझे बुला कर कहा कि आपके चाल-चलन के बारे में इधर कई शिकायतें सुनने में आई हैं । मैं समझ नहीं पा रहा कि……" कहते-कहते ज्यों ही नीहार बाबू ने सिर उठाया, तो देखा कि पारुल की आंखें झुकी हुई हैं और उनसे टप्-टप् आंसू गिर रहे हैं ।

बिना आंखें ऊपर उठाए ही पारुल ने कहा......"आप क्या समझ नहीं पा रहे ? मैं स्वयं कई दिनों से आपसे इस बारे में खोल कर बात करना चाहती थी मगर बहुत दिनों की झिझक और संकोच ने जबान खुलने न दी। अच्छा हुआ, जो आपने ही आज मेरी सहायता की।"

सकपका कर नीहार बाबू ने कहा......"हां, मतलब यह है कि बात तो साफ-साफ ही होनी चाहिए।"

"मैं समझती हूं, इसमें साफ और बेसाफ की बात ही क्या है ? मैं स्वयं नहीं चाहती कि आप और बेला दीदी के बीच में कांटा बन कर रहूं और आपकी बदनामी का कारण बनूं।"

"पर पारू..."सहसा रुक कर नीहार बाबू फिर बोले—"बेला का सन्देह और बाहर की बदनामी मेरे लिए एक असह्य यन्त्रणा-सी जरूर हैं; किन्तु तुम्हारे बिना जीवन की अब जैसे कल्पना ही नहीं कर पाता। तुमने पतझर के सूने मन्दिर में जैसे देवता की प्राण-प्रतिष्ठा कर दी है,जीवन के आकर में पावस की पहली फुहार ला दी है। तुम्हारे बिना......"

"बस, बस, आप तो कविता ही करने लगे।" एक विकल मुस्कराहट के साथ क्षीण स्वर में पारुल ने कहा—"पर मैं इस स्थिति में रह कैसे सकती हूं ? माना कि मैं अनाथा हूं, निराश्रिता हूं और आपके शब्दों में भ्रष्टा भी हूं ही। फिर भी आखिर तो मैं एक भारतीय नारी हूं, जो युग-युगातीत से परम्पराओं की सारी गुलामी स्वीकार करके भी आत्म-बोध और विवेक तथा नारी की मर्यादा और सम्मान की बन कर रह सकती हूं, पर रखैल बन कर नहीं।"

"यह तुम क्या कह रही हो, पारू ?"

"वही, जो आप स्पष्ट नहीं कह सके। क्षमा करें नीहार बाबू, मैं आप जितनी पढ़ी-लिखी और सुसभ्य नहीं; पर इतना जानती हूं कि विवश होकर नारी भले ही बलात्कार की शिकार हो जाय, स्वेच्छा से वह भ्रष्टता और पतन को कभी अंगीकार नहीं कर सकती। आपकी आंखें शायद नारी-देह की कमनीयता और कोमलता देखने की ही अभ्यस्त हैं, उसकी अन्तरात्मा नहीं। खैर, जाइए, सो रहिए। वक्त काफी हो गया है।"

"यह तुम क्या कह रही हो, पारुल ?" हतप्रभ हो नीहार बाबू ने कहा और उठ कर बोले—"तुम मुझे गलत समझ रही हो, पारू।"

"अच्छी बात है, वही सही। अब इसका निर्णय सुबह होगा। अभी आप जाकर सो रहें।"

नीहार बाबू अभी अपने कमरे में प्रवेश करने जा ही रहे थे कि बरामदे के दूसरे छोरवाले कमरे का पर्दा हटा कर अंधेरे में ही बेला ने कहा—"अब किस बात का निर्णय होना बाकी रह गया है ? तुम दोनों मिल कर क्यों मुझे बेवकूफ बना रहे हो। कहते हैं मुझे सन्देह है। भला, क्या मैं अपनी आंखों पर भी विश्वास न करूं।"

हड़बड़ा कर पारुल उठी और बेला के कमरे की ओर बढ़ते हुए बोली—"यह क्या किया दीदी आपने ? आपको पलंग पर से उठना नहीं चाहिए था। अभी आप काफी कमजोर हैं। क्या कुछ चाहिए आपको ?"

"हां, मुझे चाहिए मौत ? और तो तूने सब कुछ दे ही दिया है। चुड़ैल कहीं की ?" यह कह क्रोध से दांत पीसते हुए ज्यों ही बेला ने मुड़ना चाहा, चौखट को थामे हुए हाथ फिसले और वह वहीं गिर पड़ी। पारुल के मुंह से एक चीख निकल गई। नीहार बाबू दौड़े और उन्होंने तथा पारुल ने मिल कर बेला को उसे पलंग पर लिटा दिया। दोनों बिना कुछ बोले एक दूसरे की ओर देख कर फिर बेला को देखने लगे।

नियत समय पर जब सुबह की चाय नहीं आई, तो नीहार बाबू कुछ झल्लाए हुए से अपने कमरे से बाहर आए। देखा, जहां रात को पारुल सोया करती थी वहां दो बोरे जरूर पड़े हैं, पर अपनी गुदड़ी और मैले तकिए के साथ वह स्वयं गायब थी। वहां कागज का पुर्जा पड़ा था, जिस पर लिखा था—"दीदी के स्वास्थ्य लाभ करने से पहले ही वादा-खिलाफी कर चले जाने के लिए मुझे क्षमा करें। जो कुछ आपने मेरे लिए किया, उसके लिए जीवन भर आपकी ऋणी रहूंगी।" मेरे दोषों और त्रुटियों के लिए क्षमा कर सकें, तो अवश्य कर दें—हतभगिनी पारू।"

नीहार बाबू को जैसे एक गहरा आघात-सा लगा। पुर्जा बेला की मेज पर रख, बिना कुछ खाए-पिए ही वे कपड़े बदल कर बाहर चले गए।

आत्म-अभियोग

यशपाल

अपने छोटे से नगर में महत्ता और संकीर्णता का जो विकट संघर्ष मैंने देखा है, उसका प्रकट रूप तो कुछ भी नहीं था। वह घटना इतनी सूक्ष्म थी कि समारोह में एकत्र दूसरे लोग कुछ जान भी न पाए। जानने के कारण ही मेरा मन उस बोझ से इतना छटपटा रहा है। उन आदरणीय लोगों की बाबत कुछ कहा भी नहीं जा सकता।······कम से कम अभी कुछ वर्ष तक। जब वे लोग इतिहास का अंग बन जाएंगे—शायद बन ही जाएं—तो दूसरी बात होगी।

बात को अन्त से आरम्भ की ओर न ले जाकर आरम्भ से अन्त की ओर ले जाना ही ठीक होगा। दोनों पात्रों के नाम अभी नहीं बताए जा सकते। इसीलिए अभी 'कवियित्री' और 'नेता', इन दो उपनामों से ही सन्तोष करना पड़ेगा।

घटना के कारणों का आरम्भ पुराना है—यानी पूरी एक पीढ़ी पहले की बातें और वातावरण। विदेशी शासन के बन्धन के साथ तब रूढ़ि के बन्धन भी काफी कड़े थे। परन्तु उस संकीर्णता में भी कुछ नवयुवक राष्ट्रीय भावना से अपने आपको न्योछावर करने की विशाल-हृदयता का परिचय देते थे। वैसी उदारता आज नवयुवकों में दिखाई नहीं देती। शायद आज परिस्थिति उसकी मांग भी नहीं करती।

जिस 'नेता' की बात कह रहा हूं, वह उस समय ऐसा ही नवयुवक था। सभी लोग उसे प्रतिभासम्पन्न समझकर विश्वास करते थे कि

वह अपना भविष्य सफल और उज्ज्वल बना सकेगा। परन्तु उसने राष्ट्रीय भावना की पुकार सुन कर अपना सब कुछ—तात्कालिक सुख, सफलता, भविष्य, बल्कि जीवन ही—न्योछावर कर दिया। हम कई लोगों में उतना साहस नहीं था। इसलिए हमने उसका आदर करके ही सन्तोष पाया। आदर करने वाले इन लोगों में 'कवियित्री' भी थीं। उस समय वे थीं प्रस्फुटित होते यौवन के उद्वेग में, जब कि निःस्वार्थता और त्याग भी सीमाओं को तोड़कर ही वहना चाहते हैं। उस समय उनकी भावनाएं कविता की वाणी का माध्यम पाकर जनश्रुत नहीं हो पाई थीं और प्रतिक्रिया में प्रसिद्धि ने उन्हें आदर से ऊंचा नहीं उठा दिया था। परन्तु हृदय तो वही था—उद्वेग और भावना की अपरिमित शक्ति से भरा।

जैसे पतंगों को जलती दीपशिखा की ओर जाने के लिए कोई नहीं कहता और उस ओर जाने से रोक भी नहीं सकता, वैसे ही कवियित्री नेता के आदर्श से आकर्षित होकर उसके पथ का अनुसरण करने के लिए व्याकुल थीं—कर्तव्य के पथ पर मृत्यु की खाई में भी उतने ही उत्साह से कूद जाने के लिए। परन्तु हुआ यह, कि नेता आगे निकल गया और कवियित्री साथ देने के लिए—उसका हाथ पकड़ने के लिए—बांह फैलाती-फैलाती पिछड़ गई, जरा पिछड़ गई।

नेता राष्ट्रीय मुक्ति के लिए अपनी जान पर खेल कर विदेशी शासन पर चोट करने के प्रयत्न में गिरफ्तार हो गया। सभी जानते थे कि इस साहस का मूल्य नेता को फांसी या आजन्म कारावास का दण्ड भोग कर देना होगा। इस घटना से हम सभी को चोट लगी; परन्तु विदेशी शासन के आतंक से—और इतना साहस न होने पर—मौन आदर और सहानुभूति के सिवा कर ही क्या सकते थे! कवियित्री के लिए यह आघात केवल राष्ट्रीय भावना की पीड़ा तक सीमित नहीं रहा। शायद व्यक्तिगत कुछ था ही नहीं। शायद सभी कुछ व्यक्तिगत भी था।

विदेशी शासन के न्यायालय से नेता को आजन्म कारावास के दण्ड की आज्ञा हो चुकी थी। उसे काले पानी या द्वीपान्तरवास के लिए भेजे

जाने की तारीख भी निश्चित हो चुकी थी। जेल के कायदे से उसे अवसर दिया गया था कि पत्र लिखकर अपने सम्बन्धियों को सूचना दे दे और किसी से मिलना चाहता हो, तो उसे अमुक तारीख से पहले बुला ले।

नेता ने अपनी प्रौढ़ा मां और भाई को पत्र लिखकर अपने काले पानी भेजे जाने की तारीख की सूचना दे दी थी, परन्तु इतनी दूर किसी के मिलने आ सकने की आशा नहीं थी। वह अपने सम्बन्धियों की आर्थिक बेबसी और अपने मित्रों की राजनीतिक बेबसी जानता था, सो आशा न कर सकने का दुख भी नहीं था। किसी प्रतिकार और पुरस्कार की आशा से उसने यह कदम उठाया भी नहीं था। वह अपने आपको कर्तव्य की वेदी पर उत्सर्ग कर चुका था। प्राण रहते हुए भी, वह अपने आपको दूसरों के लिए जीवित नहीं समझता था।

परन्तु जेल की कोठरी में नेता को सूचना मिली कि उससे मिलने के लिए कुछ लोग आए हैं, उसने साश्चर्य जेल के फाटक पर जाकर देखा कि उसकी मां और छोटे भाई के अतिरिक्त वे कवियित्री कुमारी भी हैं, जो उसे एक बार देख पाने के प्रयोजन से ही इतनी दूर की यात्रा करके आई थीं। कवियित्री अपनी बात कह सकने का अन्तिम अवसर समझ कर आए बिना न रह सकीं। पर जेल के पहरेदारों की तीक्ष्ण आंखों और सन्देह के लिए कारण खोजते कानों की चौकसी में क्या बात होगी ? फिर भी, आंखों की मौन भाषा को कौन रोक सकता था ? उन्होंने अपनी बात कही और भावना ने अपनी भूख के अनुसार उसका अर्थ समझा।

जेल में मुलाकात के बीस मिनट गुजरने में कितना समय लगता है। जेल के अधिकारी ने नेता को अपनी कोठरी की ओर लौटने की, और उससे मिलने आए मां, भाई और कवियित्री को फाटक के बाहर लौटने की चेतावनी दी। नेता उन लोगों के चलने की, और वे लोग नेता के चलने की प्रतीक्षा में क्षण भर ठिठके। नेता को ही पहले कदम उठाने पड़े।

कदम उठाते ही नेता ने देखा, कवियित्री झुकीं और उन्होंने नेता के चरणों के नीचे की धूल समेटकर अपने आंचल के कोने में यत्न के साथ

संभाल ली, जैसे तीन सौ मील से अधिक की यात्रा कर वे इसी उद्देश्य के लिए यहां आई थीं।

नेता ने देखा और उसके शरीर में बिजली कौंध गई। बिजली की इस लपट से उसकी आंखों के सामने फैले काले भविष्य का आकाश फट गया। उसकी आंखों ने अपने सामने अंधकार का असीम व्यधान स्वीकार कर लिया था। अंधकार के व्यवधान में किसी आशा या महत्वाकांक्षा की लौ या टिमटिमाहट की उम्मीद उसने नहीं की थी। परन्तु बिजली की इस निःशब्द तड़प से भविष्य का काला पाट फट गया। सामने भविष्य का काला समुद्र तो था,परन्तु उस समुद्र में चमत्कारिक प्रकाश के लिए प्रकाश स्तम्भ भी था, आंचल के कोने में उसकी चरण रज संभालती भावनामयी कुमारी के आकार में। उसकी कल्पना ने साहस पाया। आजन्म कारावास की चौदह वर्ष की अवधि में वह मर नहीं जाएगा। जीवित रहने के लिए कारण उसके पास है।······चौदह वर्ष बाद, जब वह श्वेत केश, विरूप चेहरा और निस्तेज आंखें लिए संसार में लौटेगा, तब उसे अपना मार्ग पहचानने और ढूंढ़ने में कठिनाई नहीं होगी।······कर्तव्य के पथ पर अपनाए दारिद्रय और तप में ही स्नेह का प्रकाश उसके थके पांवों को ठोकर से बचाता रहेगा—भावनामयी, प्रतिभामयी इस कुमारी का हाथ उसका हाथ थामे उसे ले चलेगा। कोसों दूर, समुद्र लांघ कर, काला पानी पीकर जीवित रहते समय भव्य आशा उसे सान्त्वना देती रहेगी।

हमारे नगर में नेता के चले जाने के बाद से राष्ट्रीय आन्दोलन के क्रांतिकारी ढंग की बजाय सविनय अवज्ञा आदि का प्रकट और सार्वजनिक ढंग ही अधिक सबल होता गया। कवियित्री क्रान्ति के मार्ग में त्याग की भावना का आदर करते हुए भी इसी माध्यम से राष्ट्रीय कर्तव्य को पूरा करने का प्रयत्न करती रहीं। और, जब क्रांति के मार्ग में अपने आपको न्योछावर कर देने के लिए तत्पर होकर भी वे एक बार अवसर से चूक गईं, तो फिर वैसा अवसर उतना उत्कटता से आया भी नहीं। जब जीवन था, तो जीवन की मांगें और प्रवृत्तियां भी थीं। कवियित्री कविता लिख कर जीवन को साधारण रूप से ही सार्थक बना सकने की चाह करने लगी।

ब्रिटिश साम्राज्य की अपरिमित शस्त्र-शक्ति को नि:शस्त्र जनता के आग्रह के सामने समझौते के लिए झुकना पड़ा। देश ने अपना शासन करने का अधिकार एक सीमा तक पा लिया। जनता की प्रतिनिधि-सरकार ने स्वातन्त्र्य संग्राम के वीरों को जेलों से मुक्त कर दिया। नेता भी आजन्म कारावास की जगह सात ही वर्ष बाद काले पानी से लौट आया। जनता ने इन वीरों के प्रति आदर और श्रद्धा से अपनी आंखें और हृदय बिछा दिए।

* * * *

नेता दोपहर की गाड़ी से नगर में आने वाला था। उसकी वीरता और त्याग का आदर करने वालों ने उसके सम्मान के लिए सन्ध्या-समय एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया था। सभा से पहले एक चाय पार्टी का प्रबन्ध था। स्टेशन पर उसका स्वागत करने वालों की भारी भीड़ थी। सबका मन रखते हुए उस भीड़ से बाहर निकल पाने में उसे काफी समय लगा। भीड़ उसके दर्शनों के लिए आतुर थी, परन्तु स्वयं उसकी आंखें किसी और को देख पाने के लिए आतुर थीं।

चाय पार्टी से पूर्व कुछ मिनट के अवकाश में नेता के लिए अपनी आतुरता का दमन कर लेना सम्भव न रहा। वह रास्ता बताने के लिए मुझे साथ लेकर चल पड़ा।

जिस समय ड्योढ़ी की सांकल बजा कर हम लोग भीतर से किसी के आने की प्रतीक्षा कर रहे थे, साथ के कमरे से खिलखिला कर हंसने और दो आवाजों में विनोद का स्वर सुनाई दे रहा था। इनमें से एक स्वर नेता की अत्यन्त असहाय अवस्था में उसकी चरण रज श्रद्धा से ले आने वाली कवियित्री का ही था। उस स्वर का प्रभाव नेता की मुख-मुद्रा पर स्पष्ट दिखाई दिया। वह क्षण भर के लिए रोमांचित हो गया।

सांकल बजाने के उत्तर में एक छोकरा नौकर आया। नेता ने अपना नाम और काले पानी से आने की सूचना साथ के कमरे में देने के लिए कहा। छोकरे ने भीतर से लौट कर उत्तर दिया—"बहन जी अभी बाहर गई हैं। शाम को लौटेंगी।"

इस बार मैंने देखा कि नेता के दृढ़ता के प्रतिबिम्ब चेहरे पर सहसा पसीना आ गया—फिर सूर्य के सामने घना बादल आ जाने से पृथ्वी पर फैल जाने वाली छाया की तरह श्यामलता। इस छोटी सी घटना या रुखाई के धक्के से स्वयं मुझे भयंकर आघात लगा। जिस पर यह चोट पड़ी थी, उसकी अनुभूति का अनुमान कर लेना आसान नहीं था।

चाय पार्टी में नेता एक प्याली चाय भी न ले सका। जान पड़ता था कि वह खराब सड़क पर तेज चलने वाली बस में खड़ा अपने पांव पर संभले रहने का यत्न कर रहा था। सभा में उसकी वाक्शक्ति शिथिल रही। नगर छोड़ कर चले जाने की व्यग्रता वह छिपा न सका।

कुछ ही दिन बाद सुना कि कवियित्री का विवाह अच्छी आर्थिक स्थिति, परन्तु सन्दिग्ध सी ख्याति के एक व्यक्ति से होने वाला है। कवियित्री को अपने विश्वास और आस्था पर भरोसा था। नगर में कवियित्री से सामना होने पर उन्हें किसी दूसरे ही ढंग में देखा। नेता के साथ बीती घटना के प्रसंग की चर्चा का कोई अवसर या उससे किसी लाभ की आशा नहीं थी। जल्दी ही सुना कि विवाह हो गया। फिर, बहुत समय बीत जाने से पहले ही सुना कि विवाह से कवियित्री को सन्तोष की अपेक्षा पश्चाताप और संताप ही मिला। वे भावना के ज्वार में ठगी गई थीं, जैसे, अपनी तैरने की शक्ति में अति विश्वास से बाढ़ में कूद जाने वाला व्यक्ति ठगा जाता है।

कवियित्री ने अपने आपको संभाला। वे समाज सेवा में लग गईं और अपने आपको अपनी कविता में खो दिया।

कवियित्री ने अपने आपको तो खो दिया, परन्तु संसार ने उनकी कविता पाई। कवियित्री की जीवन शक्ति सब ओर से सिमट कर कविता में वेगवती हो उठी, जैसे पूरे प्रदेश से सिमटा वर्षा का जल एक मार्ग से जाते समय वेगवान हो जाता है। वे नगर का गौरव बन गईं—दूर-दूर तक उनकी ख्याति फैल गई।

नेता तो झोंपड़ा फूंककर ही राष्ट्रीय कार्य के मार्ग पर चला था। लौटने की तो कोई जगह या कोई बात थी नहीं। नगर में मानसिक आघात पाकर नगर ही से उसे विरक्ति हो गई थी। वह जिले के ग्रामों में

काम करने के लिए निकल गया। उसने निःस्वार्थ और अथक परिश्रम से जनता का विश्वास पाया। उसकी बात ही जनता के लिए प्रमाण बन गई।

तभी अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का भंवर उठ खड़ा हुआ। इस भंवर में ब्रिटिश साम्राज्य का जहाज डांवाडोल हो रहा था। साम्राज्यशाही ने आत्म-रक्षा के लिए भारत को भी अपने साथ बांधना चाहा। भारत की राष्ट्रीय भावना ने साम्राज्यशाही के प्रयत्न का विरोध किया। देश में उथल-पुथल मच गई। राष्ट्रीय भावना के प्रतिनिधि नेता फिर जेलों में गए। हमारे नगर का नेता भी गया। नेता इस बार जेल से लौटा, तो उसके सामने निर्माण का और भी बड़ा काम था।

विदेशी गुलामी से मुक्त राष्ट्र ने जनता का प्रतिनिधि शासन आरम्भ करने के लिए चुनाव आरम्भ किया। हमारे नगर और जिले का एक ही निर्विवाद नेता था। उसकी निःस्वार्थ सेवा और उसका त्याग प्रतिद्वन्द्वीहीन था। वही हमारे जिले की ओर से निर्विवाद प्रतिनिधि मनोनीत हुआ। इससे नेता को नहीं, जिले और नगर को सन्तोष था।

नगर अपने इस निर्णय पर स्वयं अपने आपको बधाई देना चाहता था। नगर के अनुरोध से नेता ने उस अवसर पर नगर में आना स्वीकार किया। नगर की इच्छा थी कि इस सभा का नेतृत्व नगर का दूसरा गौरव, कवियित्री ही करें। इस सुझाव और तैयारी का कुछ उत्तरदायित्व मुझ पर ही था। इसीलिए घटना का आघात मेरे लिए असह्य है।

* * * *

पंडाल में स्वागत के लिए उत्सुक भीड़ जमा थी। वेदी पर सभा-नेत्री की कुर्सी के समीप एक कुर्सी नेता की प्रतीक्षा कर रही थी। मेज पर नगर के आदर और श्रद्धा से संजोया हुआ हार प्रतीक्षा कर रहा था।

पंडाल के द्वार पर नेता की जय का स्वर सुनाई दिया। नेता विनय से सिर झुकाता, सकुचाता हुआ, भीतर आया। दोनों ओर खड़ी भीड़ की दीवारों के बीच से वह वेदी की ओर बढ़ा जा रहा था। कवियित्री आदर और श्रद्धा से हार लेकर स्वागत में खड़ी हो गईं।

नेता ने वेदी की तीन सीढ़ियों में से पहली सीढ़ी पर कदम रखा, और हाथों को जोड़े हुए आंखें उठाईं। कवियित्री हार लिए दो कदम आगे बढ़ आईं। आंखें चार हुईं।

नेता का कृतज्ञता और विनय के उद्वेग से शिथिल और पसीजा हुआ चेहरा सहसा कठिन हो गया। आंखें पथरा गईं। दूसरी सीढ़ी पर कदम ठिठक गए। जुड़े हुए हाथ कमर पर आ गए। चेहरे पर किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता की मुद्रा। गले में आए उद्वेग को निगल, नेता ने वेदी की ओर पीठ और जनता की ओर मुख कर लिया।

कवियित्री फैली बांहों पर आदर और श्रद्धा का भारी हार लिए दीपशिखा की भांति कांप कर स्तब्ध रह गईं।

अपने आपको संभालने के लिए नेता जरा खांसा। सांसों की स्तब्धता में उसका कांपता सा स्वर सुनाई दिया—"इस आडम्बर की क्या आवश्यकता है ? मैं आदर का भूखा नहीं हूं। यदि आप मेरा आदर और विश्वास करते हैं, तो अपना उत्तरदायित्व भी समझिए।"

नेता के पास और शब्द नहीं थे। उसने एक बार और प्रयत्न किया—"आप लोग क्षमा करें······मुझे यही कहना है········· आपके आदर के लिए धन्यवाद।" नेता वेदी की ओर देखे बिना ही लौट गया।

पंडाल नेता की निरभिमानता, विनय और कर्मठता के प्रति आदर व्यक्त करने के लिए तालियों के शब्द और जय की पुकार से गूंज उठा। कवियित्री, माथे पर आया पसीना पोंछना भूल कर, ओंठ दबाए वेदी से नीचे उतर आईं।

मैं समझ नहीं पा रहा था कि क्या करूं ?

जब रह नहीं सका, तो दोपहर बाद नेता के डेरे पर गया ही। एक बार इतना कहे बिना तो मैं नहीं रह सकता था—"तुमने यह किया क्या ?"

मालूम हुआ कि नेता सिरदर्द से चुप अकेले लेटे हैं। एक बार मिल लेना और भी आवश्यक हो गया। नेता के चेहरे पर सचमुच ही वेदना छाई थी। आंखें मिलने पर आंखों से ही पूछा—"क्यों ?"

नेता ने कातर आंखें मेरी ओर उठा कर उत्तर दिया—"अहम् का दम्भ कितना गहरा दबा रहता है।.........बदला लिए बिना रह न सका।...अब लज्जित हूं। मैंने दूसरों को यूं ही छोटा मान लिया था।"

इतनी बड़ी सजा देने के लिए तो मैं स्वयं भी तैयार होकर नहीं गया था। अब और क्या कहने को रह गया था!

लेकिन मैं स्वयं अपराधी था, कवियित्री के सामने। घटना के लिए अपने उत्तरदायित्व के प्रति खेद प्रकट करना तो आवश्यक था। संकोच के कारण साहस नहीं हो रहा था, पर गए बिना रहता कैसे?

दरवाजे पर मेरी दस्तक के उत्तर में कवियित्री ने स्वयं ही किवाड़ खोले। उनके हाथ में कलम देखकर ठिठक गया—"क्षमा कीजिए, आप कविता लिख रही थीं....."

"नहीं-नहीं, आइए-आइए।" कवियित्री के चेहरे पर दबी सी मुसकान फैल कर निखर गई।

बात करना सरल हो गया। भीतर जा वे सोफा पर बैठ गईं, तो मैंने कहा—"आपके काम में विघ्न नहीं डालूंगा। पंडाल में ऐसी घटना की मुझे आशा नहीं थी।......केवल क्षमा मांगने आया था।"

कवियित्री के चेहरे की मुसकान सन्तोष के पुट से गहरी हो गई। उनका हाथ मुझे चुप रखने के संकेत के लिए उठ गया। फिर, संगीत-भरा संतुष्ट स्वर मुझे सुनाई दिया—

"दंड पाया,
मुक्त हुई
अपने अभियोग से!"

और कवियित्री ने तृप्ति की सांस ले कलम एक ओर रख दी।



टूटा पुरजा

ए० रमेश चौधरी

जब मुनुस्वामी वापस न आया, तो उसकी पत्नी कोण्डालम्मा ने मुहल्ले में पांच-दस से कहा, लड़की को सड़क पर भेजा, किसी पड़ोसी को ट्राम शेड के पास पूछ-ताछ के लिए रवाना किया। पर जब उसका कुछ पता न लगा, तो परिवार पहले की ही तरह चलने लगा, जैसे उसकी उपस्थिति या अनुपस्थिति से कोई फर्क न पड़ता हो।

कोण्डालम्मा ने दो-चार दिन रसोई जरूर नहीं की, पर शायद वह भी इसलिए नहीं कि मुनुस्वामी घर में न था, बल्कि इसलिए कि घर में पकाने के लिए ही कुछ न था। थोड़ी-बहुत वह रोई-पीटी भी। पर चूंकि रोना-पीटना रोजमर्रे का काम था, इसलिए किसी पर कोई विशेष असर न हुआ। मानो तालाब में किसी ने पत्थर फेंका, लहरें उठीं और तालाब ही में समा गई—तालाब का पानी फिर से निश्चल हो गया।

मुनुस्वामी का परिवार एक बेकाम मशीन की तरह था और वह स्वयं एक टूटा-फूटा, ढीला-ढाला पुरजा था।

मुनुस्वामी की उम्र कोई बावन-तिरेपन की थी। मोटा शरीर, काला तपा रंग, सरकण्डे के फूल से बाल, झुर्रियों वाला चेहरा।

जब तक वह ट्राम की कम्पनी में काम करता रहा, तब तक उसका जीवन भी ट्राम की तरह बना रहा—पटरियों पर सीधा चलता गया, आगे-पीछे खट-खट करता, धीमे-धीमे। सवेरे घर से काम पर जाता

ग्रौर शाम को वापस चला ग्राता। पिछले पच्चीस साल से वह यही करता ग्राया था। जैसे ट्राम को कभी-कभी कारखाने में मरम्मत व रंग के लिए भेज दिया जाता था, वैसे ही उसको भी कभी-कभी ग्राराम के लिए बहुत-कुछ मिन्नत के बाद छुट्टी मिल जाती थी।

परन्तु ग्रब उसकी हालत उस टूटी-फूटी ट्राम की तरह थी, जो पटरी पर से गिर पड़ी हो, या जिसके पहियों के नीचे से पटरी गायब हो गई हो।

वह ख्वाब देख रहा था कि एक-दो साल में वह रिटायर हो जाएगा, प्रोविडेण्ट फण्ड मिलेगा, लड़की की शादी कर देगा ग्रौर राम-नाम जपता वक्त काट देगा। ज्यों-ज्यों रिटायरमेण्ट के दिन नजदीक ग्राते जाते थे, उसमें एक ग्रजीब चुस्ती सी ग्राती जाती थी। उसके पोपले मुंह पर रह-रहकर हँसी दौड़ जाती थी।

पर ग्रचानक मद्रास की ट्रामवे कम्पनी बन्द कर दी गई। बताया गया, घाटे के कारण ऐसा हुग्रा। ग्रदालतों में मुकदमेबाजी हुई। सरकार ने भी हाथ-पैर हिलाए। ग्रखबारों में शोर-शराबा हुग्रा। लोगों में खलबली मची, बस।

मुनुस्वामी पर तो बिजली ही गिर पड़ी। उसको ट्राम पटरी पर से फिसल चुकी थी। ग्राशाग्रों की बांबी एकाएक ढह गई थी। उसको ऐसा लगा, मानो गाड़ी तो वह चला रहा हो, पर गाड़ी चल न रही हो।

लड़की की शक्ल देखते ही वह जल-सा उठता। दीवार पर टंगे देवी-देवताग्रों को मन ही मन हाथ जोड़ता, भाग्य को कोसता ग्रौर झख मार कर बैठ जाता। थोड़ा-बहुत पैसा मिला था, सो जैसे-तैसे गुजारा कर रहा था।

वे हाथ-पैर, जो सिवाय नींद के कभी खाली न रहे थे, ऐसे लगते थे, जैसे खुद-ब-खुद हिल रहे हों। घर में बैठा क्या करता? बीड़ी सुलगाता ग्रौर साथ के ड्राइवरों के पास जा ग्रपना दुखड़ा रोता। सबका रोना एक जैसा ही था। कौन किसको सुनाता ग्रौर किसकी सुनता?

घर उसको काटता सा लगता। एक लड़की थी—उम्र बीस-बाईस की। पच्चीस वर्ष खून-पसीना एक किया, पर वह लड़की के हाथ

भी पीले न कर पाया। किस्मत की बात है। पेरुमल ने दस साल ही नौकरी की और तीन लड़कियों की शादी करवा दी।

मुनुस्वामी जो कुछ कमाता, खाने-पीने में खर्च हो जाता। इकलौती लड़की थी, लाडली। जो कुछ मांगती, पाती। बाप ने कभी 'न' नहीं की। मां ने कभी उसे आंख न दिखाई। और अब, वही लड़की नागिन की तरह लग रही थी।

उनके बारे में मुहल्ले वाले बे सिर-पैर की कहते थे। कइयों का तो यह भी कहना था कि मुनुस्वामी को लड़की प्यारी है। वह उसके बगैर एक दिन भी न रह सकेगा, इसलिए उसको वह क्वांरी रखे हुए है। हो सकता है कि यह कुछ हद तक ठीक भी हो, पर सच तो अब यह है कि वह लड़की से दूर भागता रहता है।

एक महीना बीता। दो महीने बीते। मुनुस्वामी ने दौड़-धूप की। पर जब नौकरी थी, तभी किसी ने न पूछा, तो भला अब उसको कौन पहचानता ? रिश्तेदारों में बात छेड़ी, पर सबने इधर-उधर की कही और असली बात टाल दी। उधर, घर में पत्नी आग उगलती रही।

पत्नी की तो आग उगलने की आदत थी। उसने अपनी जिन्दगी उस आग को झेलते ही काटी थी। वह अपनी जलन को काम में भुलाने की कोशिश करता था। न जाने भगवान ने उन दोनों की क्या जोड़ी बनाई थी—पत्नी की और उसकी कभी न पटी। उसकी हर बात में मुनुस्वामी को जहर का डंक दिखाई देता।

जैसे-जैसे दिन बीतते गए, वैसे-वैसे तंगी अधिक होने लगी। घर में फांके पड़ने लगे। पत्नी भी लाचार थी। वह पति को काम की खोज में जाने के लिए बुरा-भला कह कर हांकती।

बावन वर्ष की उम्र—कहां जाए मुनुस्वामी ? जिन्दगी भर ट्राम चलाई थी। कभी और कोई काम किया न था—न शायद और कोई काम आता ही था। फिर भी, वह कोशिश करता रहा। उसी की तरह सैकड़ों ड्राइवर काम की खोज में जमीन-आसमान एक कर रहे थे। मुनुस्वामी ने कई किवाड़ खटखटाए, पर उनको बन्द पाया।

भटक-भटक कर वह घर वापस आता। कहीं से कुछ उधार मिलता, तो दो-चार कौर खा लेता, वरना भूखा सो जाता। वह शरीर, जिस पर कभी मोटी मांस की परत थी, अब ढीला होकर लटक सा गया था।

"भगवान ने दो हाथ क्या इसलिए दिए हैं कि बेकार बैठे रहो?" —पत्नी ने जहर उगला।

"कौन बैठा है?···" मुनुस्वामी ने कुछ कहना चाहा कि पत्नी गरज उठी—"नहीं तो बड़े काम में लगे हुए हो? तभी तो यहां सवेरे-शाम चूल्हा चढ़ता है!"

"खोज तो रहा हूं काम।"

"अगर ठीक तरह खोजो तो क्या काम ही न मिलेगा? कृष्णन को बस वालों ने ले लिया है। वह भी तो आखिर तुम जैसा ड्राइवर ही था।"

"पर मेरी उम्र में और उसकी उम्र में ठीक बीस वर्ष का फर्क है, जानती हो?"

"तो क्या तुम हमेशा ड्राइवरी ही करते रहोगे? क्या दुनिया में और काम नहीं है? न जाने क्यों, मेरा तुम जैसे निखट्टू से पाला पड़ा! जब तक कमाया, एक पाई न रखी—न आगे देखा, न पीछे। पैसे को हाथ के मैल की तरह साफ कर दिया।"

"काम खोज तो रहा हूं।"

"फिर वही···अब इस अपनी लड़की को कैसे तराओगे? जब लोग आए, तब तुम्हें कोई पसन्द न आया और अब लाख खुशामद करो, तो कोई न आए। मैं जिन्दगी भर चिल्लाती रही कि इसको भी किसी के पल्ले बांध दो, पर तुम्हारे कान पर जूं तक न रेंगी। अब कहो, क्या कहते हो?"

"हूं-हूं।"—मुनुस्वामी कुछ बोल न सका।

"तुमसे बातें करने से अच्छा है कि दीवार से ही बातें कर लूं। मर्जी होती है कि लड़की को लेकर कूम नदी में जा डूब मरूं। तुम्हें तो शर्म है नहीं···क्या हमारी भी शर्म मारी गई है? पांच मिनट की ही तो बात है···सांस रोको कि इस दुनिया के बन्धन टूटे। देख क्या रहे हो?"

मुनुस्वामी खांसा। उसने अपनी पत्नी की ओर देखा—कुछ कहना चाहा, पर उसको गरजता देख सहम सा गया। आंखें नीची कर लीं। शायद उसको जवानी के दिन याद आए, जब शराब के नशे में वह पत्नी की पीठ पर अच्छी-खासी बेंत तोड़ देता था। बिना बेंत के उसकी जवान काबू में न आती थी। उम्र के साथ पत्नी की जवान और भी तेजाबी हो गई थी।

"अगर मैं ही मर्द होती, तो भीख मांग कर भी अपनी लड़की की शादी करती। भले ही फांके करने पड़ जाते, पर बड़ी लड़की को घर में नहीं रखती। यहां तो नौबत यह आई है कि फांके भी हो रहे हैं और लड़की भी घर में पड़ी है। चूड़ियां क्यों नहीं पहन लेते ? किसान की लड़की हूं, कोई कहारिन नहीं हूं कि दिन-रात दूसरों के बर्तन मांजूं। घर में खाना हो या न हो, मैं दूसरों के घर काम करने नहीं जाऊंगी सुनते क्यों नहीं हो ? कान खोल कर सुनो। घरवाली को खिलाना-पिलाना मर्द का काम है, न कि घरवाली का काम मर्द को खिलाना। कब तक हाथ पर हाथ धरे बैठे रहोगे ?"

मुनुस्वामी वहां बैठा न रह सका। उसने अपनी अधजली बीड़ी सुलगाई और बाहर जा बैठा। पत्नी आग होती जाती थी।

"घर में दो पैसे भी नहीं, नहीं तो मैं कहीं एक छोटी-मोटी दोसे (दक्षिण-भारत का एक पकवान) की दुकान ही खोल लेती।··· मेरे बस की बात नहीं कि तुम्हें मैं चावल परोसती रहूं। बेशर्म तो हो ही, भीख ही क्यों नहीं मांगते ?"

मुनुस्वामी को बेहद गुस्सा आया। वह उठा और पत्नी के बाल पकड़ कर खींचने लगा—पीठ पर दबादब मारने लगा।

"अगर इतने मर्द हो, तो काम क्यों नहीं करते ? औरतों पर ही यह मर्दानगी दिखानी आती है ?" वह बकती जाती थी और मुनुस्वामी मारता जाता था। वह आखिर थक-थका कर बाहर आकर बैठ गया। पत्नी भी सिसकती-सिसकती सो गई। जब मुनुस्वामी सवेरे उठा, तो उसका तकिया भी गीला था।

* * * *

मुनुस्वामी कर ही क्या सकता था ? काम मिलने की कोई उम्मीद न थी। घर बैठ न पाता था। भीख भी न मांगी जाती थी। आदतन वह सवेरे उठ, ट्राम शेड की ओर चला।

संयोगवश उसी की ट्राम शेड में सबसे आगे खड़ी थी······125 नम्बर। उसके हाथ खुजलाने लगे। एड़ियां ऊपर उठीं। फिर एकाएक मुख से आह निकली और सिर एक तरफ झुक गया। वह वहीं दीवार के सहारे खड़ा रह गया।

वहां पुलिस का पहरा था। पहरेवाले ने कहा—"जाओ यहां से। यहां आना मना है!"

"कब से ?"

"जाओ यहां से!"

"अरे, जिन्दगी यहां काटी है और तुम यहां आने से मना कर रहे हो!"

"तो क्या तुम ट्राम वर्कर हो ?"

"हां, हां।"

"क्या तुम नहीं जानते कि तुम्हारा यहां आना खतरनाक है ?"

"हूं, हूं।"

"जाओ, यहां काम-वाम कुछ न मिलेगा।"

"हूं···तो क्या···भीख···"मुनुस्वामी ने हाथ पसारने चाहे, पर पसार न सका। उसने हाथ, फटी जेब में रख लिए, नजर फेर ली और पास वाले मकान की चहारदीवारी पकड़ कर दूर देखने लगा।

आने-जाने वाले आ-जा रहे थे। मुनुस्वामी उनकी तरफ दीन दृष्टि से देखता, कुछ कहना चाहता, पर चुप हो इधर-उधर देखने लगता। आठ-दस घंटे बीड़ी पीता-पीता वह उसी हालत में इधर-उधर फिरता रहा। अंधेरा होते-होते वह घर पहुंच गया। न पत्नी बोली, न वही बोला। भूखा सो गया।

अगले दिन सवेरे ही वह फिर ट्राम शेड के पास जा पहुंचा। उसने भीख मांगने का निश्चय कर लिया था। और ट्रामवे वर्कर शायद ट्राम-शेड के पास ही भीख मांग सकता था!

उसके कपड़े चीथड़े हो चुके थे। दाढ़ी बढ़ी हुई थी। सूखे बाल धूल-धूसरित थे। चेहरे पर मिट्टी की मोटी परत थी, आंखें लाल, मूंछें पीली। वह वही मुनुस्वामी था, जो कभी शान से वर्दी पहने, बटनों को चमका कर, काम पर आता था। पर अब वह ड्राइवर मुनुस्वामी न था, भिखारी था। और, न जाने क्यों, अब भी उसको 125 नम्बर ट्राम देखकर मन में गुदगुदी होती थी।

वह सवेरे से शाम तक वहीं खड़ा रहा। अच्छे कपड़े पहने हुए एक भद्र पुरुष के पास भीख मांगने गया, पर न जाने क्यों, उसकी शक्ल देखते ही वह भीख न मांग सका और उसके मुख से निकल पड़ा—"कोई काम मिल सकेगा?" भद्र पुरुष अपने रास्ते चलता गया।

ज्यों ही वह ट्राम शेड की ओर मुड़ा, उसने देखा, ट्राम के पास बिजलीवाला बीड़ी पीता हुआ जा रहा है। वह उसका परिचित था। उसने सोचा कि पास जाकर उससे दो आने मांगे।

"क्यों, क्या हो रहा है, भाई?"—मुनुस्वामी ने उससे पूछा।

"ट्राम की मरम्मत हो रही है।"

"क्या फिर से चलेगी?"

"वह तो भगवान जाने! हम तो हुक्म बजा रहे हैं।"

"आखिर मरम्मत क्यों हो रही है?"

"सुना है, कम्पनी ट्रामकारें बेचना चाहती है। बेचने से पहले रंग-वंग चढ़वाकर मरम्मत करवाकर, अच्छे दाम बनाना चाहती है।"

"हूं।"

"अभी दो-चार दिन का और काम है—फिर हमें भी पर्चा पकड़ा देगी। इन तंगी के दिनों में घर-घर की धूल छाननी पड़ेगी।" कहता-कहता वह तार का बण्डल सभालने लगा। मुनुस्वामी ने दो आने उधार लेने चाहे, पर मांग न सका। "क्यों भाई, बीड़ी दोगे?"—उसने कहा और बिजली वाले ने एक बीड़ी दे दी।

बीड़ी सुलगा कर वह दीवार के सहारे खड़ा हो ट्रामकार देखने लगा। उसके कानों में शायद उसकी खट-खट की ध्वनि भी आ रही थी। अधजली बीड़ी बुझाकर उसने जेब में रख ली।

सांझ होने पर पैर घसीटता-घसीटता वह घर चला गया। लड़की से बात करनी चाही, पर उससे क्या कहता? उसका कुम्हलाया हुआ चेहरा देखकर उसने चुप रहना ही अच्छा समझा। खाली पेट सो रहा।

चार-पांच दिन लगातार वह ट्राम शेड जाता—वहीं घंटों खड़ा रहता, पर भीख न मांग पाता। एक दिन वहीं खड़ा-खड़ा बेहोश हो कर गिर गया। पुलिस वाले ने देखा और बन्दूक कन्धे पर रख, लेफ्ट-राइट करता इधर-उधर चलता रहा। आने-जाने वाले भी उसकी तरफ देखते और चले जाते। शहरों में तो परिचित होने पर ही परोपकार जागता है।

वह थोड़ी देर वैसे ही पड़ा रहा। कोई मैली-कुचैली औरत एक हंडिया में मांड़ लिए पास के रिक्शा स्टैण्ड की ओर जा रही थी। उसने अपने पति को आवाज लगाई और पानी लाने के लिए कहा। पानी मुनुस्वामी के मुंह पर छिड़का। उसको होश आया। उसने कहा कि भूख लग रही है। उस औरत ने उसको मांड़ खिला दिया। इतने में तमाशबीन भी इकट्ठे हो गए।

अगले दिन भी वह ट्राम शेड के पास यथापूर्व खड़ा हो गया। थोड़ी देर में कम्पनी का इन्स्पेक्टर डांटता-डपटता शेड से बाहर निकला। मुनुस्वामी को देखते ही उसकी आंखें अंगारे बन गई।

वह पुलिस वाले से कह रहा था—"पुलिस, केस चलाओ। पांच कारों से बिजली के लट्टू गायब हैं। कई मशीनों से तो पीतल के हैंडल भी चुरा लिए गए हैं। पकड़ो इन चोरों को......" वह कह ही रहा था कि मुनुस्वामी दूसरी तरफ देखने लगा।

"हो न हो, इसी ने चुराए हैं।"—पुलिस वाला मुनुस्वामी की ओर इशारा कर रहा था—"सात-आठ दिन से यहां मटरगश्ती कर रहा है।" पुलिस वाले मुनुस्वामी को थाने ले गए।

मुनुस्वामी जानता था कि वह उन बिजली वालों की करतूत थी। उनको नौकरी से तो हाथ धोना ही पड़ रहा था, जाते-जाते वे लट्टू वगैरह बेंच कर दो-चार पैसे बना लेना चाहते होंगे।

इन्सपेक्टर ने उससे जवाब तलब किया, पर वह कुछ न बोला। डराया-धमकाया, पर उसके मुख से एक शब्द न निकला। ललचाया,

फिर भी वह न बोला। शायद वह जानता था कि घर से जेल ही अच्छी है। कम से कम बिना भीख मांगे वहां खाना तो मिलेगा।

मुनुस्वामी पर केस चलाया गया। अदालत ने पूछा—"क्या तुमने चोरी की है ?"

"हूं।"—मुनुस्वामी ने अदालत की तरफ एक बार देखा, फिर चीथड़ों के नीचे चिपके हुए पेट को निहारा। सहसा उसके ओंठ चिपट गए।

मुनुस्वामी को एक महीने की सजा मिली। वह मुसकरा दिया।

क्षमा याचना

राय आनन्दकृष्ण

मेज पर रखे सारे सामान को इधर-उधर कर, रद्दी की टोकरी को उलट-पलट कर, उसके भीतर पड़े फटे लिफाफों-चिट्ठियों को फर्श पर बिखेर, एक ओर बिछी गद्दी-चांदनी को कई स्थानों से उलट-पलट, इधर-उधर बिखरे कपड़ों को पुनः बिखेर, जिनकी तलाशी लेने से कई की जेबें बाहर ही निकली रह गई थीं, सारे कमरे को अस्त-व्यस्त कर, मदन ने ऊपर घड़ी की ओर देखा—दस बज चुके थे। उसने अपनी बड़ी लटों को, जिनमें से कुछ आंखों के सामने लटक आई थीं, सिर के एक झटके से पुनः अपने स्थान पर ला दिया। फिर क्लान्त हो, वह उठ खड़ा हुआ।

"आखिर घटना हो ही गई" ! मदन का रोष भरा उलाहना यद्यपि किसी को लक्ष्य करके नहीं था, फिर भी आंगन के उस पार चौके में बैठी सुभद्रा के कानों से टकराकर वह रुक गया। मदन को उत्तर देने के लिए वह कोई बात ढूंढने लगी, पर अंधेरे भंडार घर में कुछ दिनों से रखी और इधर-उधर हुई किसी छोटी-मोटी चीज की तरह, बहुत टटोलने पर भी उसे कोई बात न मिल सकी। उसके माथे पर पसीने की बूंदें और बड़ी हो गईं—अपनी असहायावस्था पर उसकी आंखों में आंसू उमड़ आए।

परसों रात जब कई महीने बाद उसके मामा फिर मेहमान होकर आए थे, तभी उसके मन में न जाने कितनी आशंकाएं उठने लगी थीं,

न जाने क्यों उसका हृदय धड़कने लगा था और उसने उसी बात की कल्पना कर ली थी, जिसे आज मदन ने अन्तरिक्ष की ओर देख कर अर्धस्वगत सा कह डाला था।

फिर सुभद्रा के हाथ, मशीन की तरह, बटलोही में पड़ी दाल को चलाने में व्यस्त हो गए। उसे वह न जाने कितनी देर तक चलाती रही—उसी भांति, जैसे उसके मन में घूम-घूम कर अपने बचपन की घटनाएं आ रही थीं।

उसके पिता बहुत पहले ही स्वर्ग सिधार चुके थे। एक बहुत ही अस्पष्ट छाया की भांति उनकी आकृति कभी-कभी उसके स्मृति पटल पर उभर आती थी। किन्तु उसे यह भली भांति याद था कि उसकी मां अपने इन्हीं भाई के यहां महीनों रहती थी। वहां एक बड़े से आम के पेड़ पर सखियों के झुण्ड-समेत झूला झूलते उसकी न जाने कितनी बरसातें बीती थीं।……

उसका हाथ मन के साथ किस पूर्णविराम पर कब रुक गया था, इसे वह स्वयं न जान सकी। और दाल उफन कर जब आग को बुझा देने की चुनौती देने लगी, तब जाकर उसका ध्यान बचपन के सुनहले दिनों से लौटकर फिर पति की उक्ति पर लौट आया—"आखिर घटना हो ही गई।"

परसों रात जब मामा ने दरवाजा खटखटाया, तभी उसके मन में यह वाक्य कैसे गूंजने लगा था, यह वह स्वयं न समझ सकी थी। तब से आज तक, तीन दिनों में इस वाक्य ने उसके मन को मथ डाला था। फिर भी, इस चिरपरिचित वाक्य ने उसको इतना उद्वेलित कर दिया कि वह इतना भी न पूछ सकी कि आखिर क्या हो गया?

सहसा बड़ी-बड़ी आंखों से बूंदें ढुलक कर उसके सांवले गालों पर आ टिकीं। मदन बाल झाड़ते-झाड़ते कब आ पहुंचा, इसका उसे भान ही न हुआ। उसने सुभद्रा को टोका—"यह क्या, तुम तो ज़ुबान पर ताला लगा देना चाहती हो। आखिर, चुपचाप सहते जाएं, ऐसी हमारी हैसियत तो है नहीं।" उसका लक्ष्य आंसू की उन बूंदों की ओर था।

सुभद्रा ऐसी जड़ हो गई कि वह उन अश्रु बिन्दुओं को आंचल से पोंछ भी न सकी— ऐसा कोई उपाय भी न था कि वह उन्हें वापस लौटा कर आंखों में ही पी सकती। मदन लौटते-लौटते कह गया—"दफ्तर का समय हो गया है—अब जो कुछ तैयार हो, परोस दो।" सुभद्रा फिर अतीत में घूमने लगी।

* * * *

मामा की सारी सम्पत्ति तभी उड़ गई थी, जब सुभद्रा बचपन पार कर रही थी। दिनोंदिन उनके बड़े देहाती घर में आने-जाने वालों का क्रम घटता गया; ऊपरी सजावट के सामान टूटते-फूटते एवं बिकते गए; मकान का जो अंश गिरता गया, उसकी मरम्मत न हो सकी और अन्तत: किसी स्वप्न लोक की तरह उनकी सारी सम्पत्ति के साथ-साथ वह घर भी न जाने कहां चला गया। वे विरक्त से हो गए और इधर-उधर घूमने लगे—कभी-कभी सुभद्रा के यहां भी चले आते।

पहली ही झलक में मदन को उनका आना न रुचा था। उस बार दूसरे दिन ही वे चले गए थे, तो मदन ने सन्तोष की सांस ली थी—इसे बिना बताए ही सुभद्रा ने जान लिया था।

उस बार मदन के दफ्तर चले जाने पर, दिन भर अकेली पड़ी-पड़ी, वह इस सबके प्रति अपने पति की रुखाई पर विचार करती रही थी, पर उसे कोई समाधान न मिला था।

प्रति दिन की भांति शाम को पति के लौटने के बाद, जब भोजन, इत्यादि से छुट्टी पाकर, गोद में शिशु को लेकर, सुभद्रा मदन से इधर-उधर की बातें करने लगी, तब भी उसे कोई संधि न मिल सकी थी कि वह मामा के प्रति मदन के भाव को जान ले। फिर भी, न जाने कितना रोकते-रोकते उसके मुंह से निकल पड़ा था—"मामा से पूछना भूल गई कि आम के उस पेड़ का क्या हुआ, जिस पर झूला पड़ता था और मैं दिन भर झूलती रहती थी।"

मदन जैसे मामा को इतनी देर भूल कर कुछ आराम का अनुभव कर रहा था। पत्नी की इस बात से वह चौंक सा उठा था—"कौन हैं ये

तुम्हारे मामा ? मैंने तो जैसे इन्हें कभी देखा तक न हो। कुछ अजब-से लगते हैं।"

सुभद्रा ने पति पर असर डालने के हेतु सोद्देश्य कहा था—"हमारे विवाह में तो सारा काम हंस-हंस-कर कर रहे थे, फिर भी तुम्हें याद नहीं ? पहले बहुत पैसे वाले थे। इधर उनकी सज्जनता का लाभ उठा-कर उनके नौकर-चाकरों ने सारी सम्पत्ति हड़प ली। है भी नहीं कोई इनके। अब कुछ विरक्त-से घूमते हैं। देखा नहीं तुमने, कपड़े-लत्ते सफेद खद्दर के, लम्बे-लम्बे सिले हुए, दाढ़ी-मूंछ मुंडाए ?"

अंधेरा बढ़ चुका था, सो सुभद्रा यह न देख सकी कि मदन के चेहरे की रेखाएं कठोर हो गई थीं। पर भविष्य में उन दोनों के बीच मामा को लेकर बहुत दिनों तक कोई बात न हो सकी और तभी एक दिन मामा पुनः आ गए।

मदन उस दिन दफ्तर गया था। सुभद्रा ने बहुत ललक कर उनका स्वागत किया था। बहुत देर तक वह उनसे बचपन और मां के सम्बन्ध में बातें करती रही थी। न जाने कितनी स्मृतियों के कपाट वह खोलती-मूंदती रही थी। उनकी पिछवाड़े वाली पगडंडी से प्रतिदिन वह अपनी मां के साथ जा गंगा में ऊधम करती थी, इसका भी उल्लेख आया था। बगल के घर में लुहार की लड़की उसकी सखी थी—उसकी भी चर्चा चली थी। पंडित रामभरोसे मामा के घनिष्ठ मित्र थे। उनकी लड़की के साथ गुड्डे-गुड़ियों के न जाने कितनी बार उसने ब्याह रचाए थे। उसका ब्याह एक वृद्ध से हुआ था, जिसे लोग गुड्डे की भांति एक जगह से दूसरी जगह उठा कर बैठा देते थे, यह मामा ने बताया था। और, अन्त में, उसने उस आम के पेड़ की पूछ-ताछ की थी, जिसकी डाल पर झूला डालकर वह अनेक बरसातों में झूली थी। वह भी सारी सम्पत्ति के साथ बिक-बिका गया था—न जाने किस-किस के हाथों में घूमता रहा था।—वह दिन में अदृश्य हो जाने वाली तारावली-सा वर्तमान होते हुए भी वर्तमान न था।......

"और मामा, तुमने सब छोड़कर यह वैराग्य क्यों धारण कर लिया ?" —पुरानी स्मृतियों में डूबते-उतराते हुए उसने पूछा—

मुरझाती हुई फूल की सी सूखी हंसी के साथ मामा ने उत्तर दिया था—"तेरे सिवा कौन बच रहा है अब मेरा, जो यह प्रश्न भी करता है—किसके लिए अब पहनूं-ओढ़ूं ? बहुत कर चुका, अब थोड़ी और बीत जाए। कभी-कभी आकर तुझे देख लेता हूं, तो छाती ठंडी हो जाती है।"

"फिर भी, मामा, कहीं एक ठिकाना तो बना लेना चाहिए न।" सुभद्रा ने स्वाभाविक बात कही थी—"इस तरह बेठिकाने घूमते रहने में कष्ट ही कष्ट है, सुख नहीं।"

और, मामा ने उतनी ही स्वाभाविकता से उत्तर दिया था—"बाप-दादों से चली आई गुरु परम्परा वाले गोसाईं जी एक मन्दिर बनवाने वाले हैं। जो कुछ बचा-खुचा था, उसे मैंने मन ही मन वहीं अर्पण कर दिया है। तुम तो सब जानती ही हो—था भी क्या ? सोने की दो-चार चीजें थीं– कोई बीस भर की और एक नथ। सब मिला कर कोई दो हजार का सामान होगा। उसे वहीं दे देना है। फिर मुट्ठी भर अन्न और चार हाथ छाया चाहिए, बस ! भगवद्भजन में जीवन कट जाए—अब तो यही कामना है।" कहते हुए उन्होंने अपनी बढ़ी हुई अधपकी दाढ़ी पर हाथ फेरा था।

तभी सुभद्रा अतीत के साम्राज्य से, शाप-भ्रष्ट नहुष की भांति, वर्तमान में आ गिरी थी जब उसके पति ने दफ्तर से लौट कर दरवाजा खटखटाया था। उसी क्षण सुभद्रा के मन में न जाने कैसी-कैसी आशंकाएं उठ खड़ी हुई थीं।

पर इस बार कोई अप्रिय घटना न घटी थी। मामा सात दिन रुके थे और रोज जल्दी ही खा-पीकर कहीं चले जाते थे। फिर, रात काफी देर गए लौटते थे। अतः सुभद्रा ने निश्चिन्तता की सांस ली थी। फिर भी अन्तिम दिन, जब कमली में अपना सामान लपेट कर वे उससे एवं उसके स्वामी से विदा ले रहे थे, तब मदन ने बहुत रूखे स्वर में क्या कह डाला था, उसे वह आज तक न समझ सकी थी - "देखिए, हमारा घर बहुत छोटा है। अतः भविष्य में आप कहीं दूसरी जगह टिकने का प्रबन्ध कर लीजिएगा।"

उसके बाद महीनों तक न मामा आए और न उन दोनों में ही उनके सम्बन्ध में कोई चर्चा चली। दोनों जैसे इस प्रश्न पर एक-दूसरे से कुछ छिपा कर रखते, जिसे प्रकट करने में वे आंखें चुराते।

• • • •

परसों रात जब मामा ने दरवाजे पर आवाज लगाई, तभी सुभद्रा के मन में किसी ने कह दिया था, इस बार कुछ न कुछ होकर रहेगा। कल का दिन भली-भांति बीत गया और रात पति के सो जाने पर मामा ने जब सुभद्रा से कह दिया कि कल सुबह ही मैं चला जाऊंगा, मेरे लिए रसोई न बनाना, तो सुभद्रा के मन से एक भारी बोझ हट गया। उसकी सारी आशंकाएं निर्मूल सिद्ध हुइं, यह जान कर उसे अपूर्व सन्तोष हुआ। पर आज दफ्तर जाते समय स्वामी ने जो 'आखिर घटना हो ही गई' कह दिया, उससे उसका मन फिर उद्विग्न हो गया। खाने के स्वल्प अवकाश में उसने इस अप्रिय प्रसंग को छेड़ने की भूल न की। परिणाम यह हुआ कि सारा दिन उसका मन उससे पूछता ही रहा कि आखिर क्या हो गया?

शाम को मदन देर से लौटा। खाना खा, दिन भर की गर्मी से झुलसे शरीर को सुखद समीर से ताजगी पहुंचाने के लिए, जब वह छत पर बैठा, तब सुभद्रा ने बरबस यह अनुभव किया कि स्वामी मामा की बात छेड़ने के लिए उद्विग्न हैं। इस विकलता से छुटकारा देने के लिए जब वह कोई बात छेड़ने का उपक्रम करने लगी, तब बहुत देर तक दोनों के बीच मौन का एक परदा पड़ गया, जो उत्तरोत्तर घना होता गया। इस असह्य परिस्थिति को दूर करने के लिए सुभद्रा ने बात निकाली—"मामा कहते थे कि उन्होंने कोई दो हजार के गहने अपने गोसाइं जी को समर्पित कर दिए।"

मदन फिर भी चुप रहा। उसके असमंजस को देख, सुभद्रा चौंक उठी। सुबह आवेश में पति जो कुछ कह गया, उसे दुबारा कहने में जब उसे इतना संकोच है, तब कोई साधारण घटना नहीं जान पड़ती। उसे तुरन्त ही जान लेनी चाहिए वह बात, जिससे निराकरण तो हो सके। वह बोली—"क्या कह रहे थे तुम आज? कौन सी बात हो गई सुबह?"

मौन का परदा हट गया—संकोच की अनुल्लंघनीय दीवार ढह गई। मदन ने रुकते-रुकते कहा—"कुछ नहीं। दस रुपए का नोट मेज पर रख, दावात से दबा नहाने गया था। लौटकर देखता हूं कि न मामा हैं, न नोट। तब से खोजता-खोजता हार गया, उस कोठरी की एक-एक चीज तलाश कर डाली—कुर्सियों के गद्दे उलट डाले, रद्दी की टोकरी में रखे पुराने अखबार-चिट्ठियां देख डालीं, मेज पर धरी किताबों को देखा, खूंटियों पर पड़े कपड़ों की एक-एक जेब देख डाली, नहाने वाले घर की हर चीज उलट डाली......।"

सुभद्रा को जैसे काठ मार गया। वही मामा न, जिनके दरवाजे गाय-भैंस-घोड़ों की कतारें बंधी रहती थीं? वही न जिनके यहां नित्य नए-नए उत्सव होते रहते थे? वही न, जिनके यहां आने-जाने वालों की भीड़ लगी रहती थी? जिनके यहां......।

नदियों में ऐसे स्थल होते हैं—दो-चार चट्टानों के बीच, जहां पानी आ-आकर घूमता रहता है। वैसे ही, सुभद्रा का मन फिर कितने-कितने दृश्यों, घटनाओं और व्यक्तियों की ओर घूमता रहा। मामा के घर में अनजाने से धीरे-धीरे सन्नाटे का बढ़ना, आने-जाने वालों की कमी होना, सूखते हुए महावृक्ष की भांति धीरे-धीरे पत्ते गिरा छायाहीन होते जाने की भांति जायदाद को बेचते-बेचते क्रमशः उनका अनागरिक हो जाना—सभी दृश्य उसकी आंखों के सामने आ-आकर नाचते-कूदते अदृश्य होते गए। फिर, बहुत दिनों तक मामा के हाल-चाल और ठौर-ठिकाना का ही पता न चला और एक दिन मामा ने स्वयं आकर दरवाजा खटखटाया, वही न?

सुभद्रा न जाने कब तक कल्पना-लोक में घूमती रही। उधर, उसका पति भी किसी दूसरी उधेड़-बुन में लग गया था। फिर भी, मौन के अनन्त आकाश ने घटाटोप की तरह उन दोनों को ढक लिया है, इसका मदन ने अनुभव कर लिया। मदन उससे पार होने के लिए विकल हो उठा—"इसी से मैं तुम्हें नहीं बता रहा था कि तुम दुखी हो जाओगी। मैं जानता था......।"

सुभद्रा का उत्तर देने का मन न हुआ। फिर भी, अनजाने में उसके मुंह से निकल गया—"समय की बात है ! मामा पर यह कलंक भी लगना था !"

दूसरे दिन तड़के ही दफ्तर के काम से, न जाने कौन-कौन से कागज-पत्र अपने चमड़े के बैग में भरकर, मदन शहर से बाहर चला गया।

लौटने के तीन दिन बाद मदन ने उसे बतलाया—"अचानक बाजार में मामा से भेंट हो गई थी—मैंने सब हाल कह दिया। वे भी कुछ न बोले, चुप रह गए। मैंने उन्हें यहां आने से मना कर दिया है।"

मदन दफ्तर जाने की जल्दी में था। सुभद्रा ने कोई उत्तर न दिया। पर सारे दिन दफ्तर में बैठे-बैठे मदन की आंखों के सामने सुभद्रा का वह चेहरा नाचता रहा, जिस पर मामा वाली बात सुन कर व्यथा की रेखाएं उभर आई थीं।

* * * * *

कई वर्ष बीत गए। मामा यह सब कुछ भुला देंगे, यह सोच सुभद्रा भी उनकी प्रतीक्षा करती-करती दूसरे लोक को चली गई। उसके अन्तिम दिनों के चित्र मदन के स्मृतिपटल पर प्रायः साकार हो उठते। अन्त में सुभद्रा को मामा और आम के पेड़ की बहुत याद आई, इसे मदन कैसे भूल सकता था ?

सब जोड़-घटा कर मदन न जाने क्यों, भीतर से अनुभव करता कि मामा के प्रति उसने न्याय नहीं किया। वह उन्हें खोज कर उनसे क्षमा मांगना चाहता। पर फिर मामा कहीं न दीखे। सुभद्रा की बीमारी के अन्तिम दिनों में, दफ्तर से समय निकाल कर, न जाने कितनी वार उसने मामा की खोज में शहर की परिक्रमा कर डाली, क्योंकि सुभद्रा ने एक दिन क्षीण कंठ से कहा था कि वे यहीं-कहीं मन्दिर बनवा रहे थे—उसी के लिए यहां आकर ठहरे थे। फिर भी, मामा न मिले।

मदन उस समय ही उसका आशय समझ सका था। उसकी निस्तेज आंखों ने इस कथन से बहुत कुछ अधिक कह डाला था। मदन ने संतोष देने के लिए उससे कहा था—"तुम चिन्ता न करो, सुभद्रा ! मैं

उन्हें खाज लाऊंगा, उन्हें मना लूंगा, उनसे पैर पकड़ कर क्षमा मांग लूंगा।" फिर भी, वह मामा को खोज कर न निकाल सका।

अन्त में, जब सुभद्रा का स्वर बहुत क्षीण हो गया था और कम से कम शब्दों में वह अपने को व्यक्त कर पाती थी, तब उसने कहा था—"मिलें, तो मामा को क्षमा कर देना......—"

* * * *

अब, जब दिन पोस्त के फूल सा फूल कर प्रति शाम को अपनी पंखुड़ियां बिखेर देता, तब मदन घर में उस उत्साह से प्रवेश नहीं करता, जैसे पत्नी की जीवितावस्था में करता था। पत्नी के बड़े से चित्र की छाया में बैठ, वह पुरानी पुस्तकों-पत्रिकाओं को उलटने-पलटने में उदास संध्याओं को बिता देता और अन्त में खाट पर पड़ रहता। कभी-कभी वह सिर उठा कर देखता, तो चित्रपट पर विषाद की वही गहरी रेखाएं मिलतीं, जो जीवितावस्था में मामा को याद कर प्रायः उभर आती थीं।

एक दिन पुरानी घटनाएं फिर साकार हो उठीं। उस शाम को उसके हाथ में वही पत्रिका थी, एक बार बहुत दिन पहले जिसे पढ़ते-पढ़ते वह उठा था, नहाने वाले घर की ओर गया था, पर उसके पढ़ने का लोभ संवरण न कर सका था और लौट आया था। उसे अपने दफ्तर ले जाने वाले चमड़े के बैग में धर पुनः नहाने चला गया था। उस दिन दफ्तर में साहब आ गए, उनके साथ सारा दिन यों ही बीत गया। रात देर से लौटने पर सुभद्रा ने मामा की बात छेड़ दी थी। तब उसका मन ऐसा खट्टा हो गया था कि वह उसे पढ़ सकने की इच्छा भी न कर सका था। उसे भली-भांति याद आया—दूसरे दिन तड़के ही सब सामान बांध कर उसे दफ्तर के काम से बाहर जाना पड़ा था। तब भी वह उसे साथ ले जाना चाहता था, पर हड़बड़ी में वह घर पर ही छूट गई थी। रास्ते भर, उसमें प्रकाशित जासूसी उपन्यास का धारावाहिक अंश पढ़ने को वह तड़फड़ाता रहा था—यह भी उसे न भूला था। स्टेशनों पर उतर-उतर उसने उस अंक को बहुत खोजा, पर न मिला। लौटने पर, सुभद्रा ने सब अस्त-व्यस्तता को सुधार कर क्रमबद्ध कर दिया था, इसका तो उसे संतोष हुआ था; पर वह अंक कहां रखा गया था,

इसकी उसे बहुत दिनों तक खोज रही थी। विशेष रूप से इधर-उधर कई विक्रेताओं के यहां खोजने पर भी, युद्ध के उन समस्त पदार्थों की भांति, विदेशी पत्रिकाओं की दुर्लभता के दिनों में वह अंक न मिला था। उस धारावाहिक उपन्यास के क्रम के टूट जाने से उसे बहुत असंतोष हुआ था। अगले अंक से उसका सारांश पढ़ कर किसी प्रकार उसने अपने-आपको संतुष्ट किया था। फिर भी, जब तक उसके मन में उस कहानी की छाप बनी रही, तब तक जहां उसका स्मरण आता, उस अंक के खो जाने की उसे कसक होती।

आज कागजों में सहसा वह प्रकट हो गया, तो उसे स्वाभाविक कौतूहल ही नहीं हुआ, सारी घटनाएं याद हो आईं। बरबस उलटते-पुलटते उसका हाथ वहां जाकर रुका, जहां धारावाहिक अंश शुरू होता था, क्योंकि इतने दिनों की बात होने पर भी उसे पढ़ डालने की उत्कंठा कम न थी। पर दूसरा पृष्ठ उलटते ही एक बहुत बड़ा उद्घाटन हुआ। दस रुपए का नोट उसमें पड़ा था। वही नोट, जिसके लिए इतना बड़ा काण्ड खड़ा हुआ था—अन्ततः जिसकी ग्लानि सुभद्रा के मन में रही थी। वही था—सन्देह का कोई कारण न था। छः-सात वर्षों से तो उस पत्रिका का चलन ही बन्द हो गया था। फिर, उस पत्रिका के अखबारी कागज पर उतनी दूर रंग और भी गहरा हो गया था, जैसे स्मृति वेदना को अपने भीतर छिपाए-छिपाए और भी गहरी बना देती है।

उस दिन से मदन मामा की और भी अधिक खोज करने लगा। शहर के अनेक मन्दिरों, मठों तथा धार्मिक आचार्यों से पूछ-ताछ करने पर भी उसे कोई पता न लगा। सुभद्रा ने जिस सम्प्रदाय में मामा को दीक्षित बतलाया था, उसके कई व्यक्तियों से वह मिला, फिर भी उसे सफलता न मिली।

* * * *

पर उसे क्षमा मांगनी थी, अतः उसका प्रयत्न बढ़ता गया।

एक दिन वह नित्य की भांति हारा-थका लौटा, तो बैठक के फर्श पर एक कार्ड पड़ा था। चार दिन पहले दक्षिण के किसी सुदूर मन्दिर

से वह चला था अपरिचित नागरी और टूटी-फूटी हिन्दी में जो लिखा था, उसका आशय इस प्रकार था—

"स्वामी हरिशरणानन्द जी का देहान्त हो गया। कल उनका भंडारा भी हो गया। अपने को वे गृहस्थाश्रम में आपकी पत्नी का मामा बतलाते थे। सन्निपात में उन्होंने जो कुछ कहा, वह ठीक समझ में नहीं आया। पर आपको पत्र लिखने को वे बार-बार कहते थे कि आपने मुझ पर व्यर्थ सन्देह किया। धन को मैंने सदा तृणवत् समझा है। मैं जा रहा हूं। मुझे क्षमा कीजिएगा, तभी मेरी आत्मा को शान्ति मिलेगी।"

आज भी, जब निरपेक्ष संध्या को पंडुकी की उदास बोली भरती रहती है, मदन अपने आपको उन स्वर्गीय आत्माओं से क्षमा मांगने में असमर्थ पाता है। वह विवश है। और तब, मामा का वह संदेश जैसे अन्तरिक्ष से उस पर हंसता रहता है।

●

सैयद बाबा

राहुल सांकृत्यायन

बचपन में आदमी स्वप्न और जाग्रत, दोनों अवस्थाओं में मानो एक ही समय घूमता रहता है। जो कथाएं वृद्धाओं और दूसरों से सुनने को मिलती हैं, वे भी उसे कल्पना क्षेत्र में घूमने की प्रेरणा देती हैं, लेकिन ये कल्पनाएं सत्यता पर बहुत कम अवलम्बित रहती हैं। कहा जाता है, राजा भोज जिस सिंहासन पर बैठे थे, वह सदियों पीछे एक खेत में कई हाथ नीचे दब गया था। किसान का लड़का जब उस जगह पर जाकर बैठता, तो वह राजा का अभिनय करने लगता। खोदने पर वहां पुराना सिंहासन निकला, जिसके चारों ओर बत्तीस पुतलियां बनी थीं। कोई अयोग्य राजा जब उसकी ओर पैर बढ़ा कर चढ़ने की कोशिश करने लगा, तो पुतलियों में से एक-एक ने खड़ी होकर भोज की महिमा की एक-एक कहानी सुनाई थी। यह एक मनोरंजक कहानी हो सकती है, पर इसमें सत्यता का अंश इतना है कि हरेक प्राचीन विस्मृत चिह्न के अकस्मात हस्तगत होने पर आदमी की जिज्ञासा उसे जानने के बारे में जरूर उत्कट हो जाती है।

मेरा पितृग्राम कनैला (जिला आजमगढ़) के नाम से मशहूर है, लेकिन सरकारी कागजों में उसे कनैला-कर्नहट लिखा जाता है। हो सकता है कि किसी दूसरे कनैला ग्राम से अलग करने के लिए उसके साथ कर्नहट जोड़ा गया हो, या फिर शायद कर्नहट नाम ही पुराना हो और

कनैला नाम वहां की कहावत के अनुसार कनैला फूल के जंगलों के कारण पड़ा हो। उसकी बगल में ही नरहता का छोटा गांव है, जो कनैहट की तरह सम्भवतः नरहट रहा हो। हाट बाजार को कहते हैं, पर ये दोनों गांव हाटों से बहुत दूर हैं। रेल के सबसे नजदीक के स्टेशन आठ-नौ मील से कम दूर नहीं हैं। अभी हाल में कनैला के एक छोर से पक्की सड़क की जमीन नापी गई है। शायद पक्की सड़क बन जाने पर बसें दौड़ने लगें और तब आने-जाने में आसानी हो जाए और ये वियाबान गांव सभ्य आदमियों के गांवों में परिणत हो जाएं। कनैहट को भी लोग कनैला के कनैल से ही जोड़ना चाहते हैं, पर वह गांव ऐसा निरा जंगली गांव पहले नहीं था, यह यहां के अवशेषों में जव-तत्र मिल गई चीजें बतलाती हैं। मौर्य काल की ईंटें यहां मिली हैं। धरातल पर ही डीह बाबा के स्थान में वज्रयान बौद्धधर्म की खण्डित मूर्तियां भी पूजी जा रही हैं, जो दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी की हो सकती हैं। डीह बाबा की बगल में ही पहले विस्तृत किन्तु अब डर के मारे खेत न बनाया गया, कुछ गज लम्बा-चौड़ा ऊंचा स्थान कोट के नाम से मशहूर है, जहां सैयद बाबा की कब्र पूजी जाती है। जान पड़ता है कि ये सैयद बाबा इस्लाम के आरम्भिक शासन के कोई तुर्क सेनानी थे। बनारस यहां से बीस कोस से अधिक दूर नहीं है और इस जगह से मंगई के पार सिसवा तक मीलों दूरी में गुप्त या प्रकट ध्वंसावशेष चले गए हैं, जिनसे पता लगता है कि मुस्लिम काल में भी यह स्थान उतना अकिंचन नहीं था। किंचन होने का ही शायद इसे फल भोगना पड़ा और तुर्कों की सेना ने आक्रमण करके इसे लूटा और पहले के सम्पन्न लोगों को अधिकतर मार भगाया। सैयद बाबा की परम्परा के वाहक कनैला के चन्द घर चूड़ीहारे-दर्जी-मुसलमान हैं, या हरिजन-अर्ध-हरिजन जातियां।

आरम्भ में, गुलाम-खिलजी-तुगलक बादशाहों के शासन काल (1194-1451 ई०) में कितने ही बड़े-बड़े अफसरों के पद पर तुर्क-भिन्न मुसलमान भी थे, जैसे असली या नकली सैयद, आदि। सैयद मसऊद सालारगाजी नामक एक ऐसे तुर्क सेनापति का हमें पता है। कनैला में भी ऐसा ही एक सैयद मुस्लिम शासक रहता था।

शताब्दियों बाद, उसके या उसके वंशज के अत्याचार की एकाध कथाएं अब भी वहां मशहूर हैं।

(1)

कर्नहट शिंशपा नगरी का उपनगर था, जहां के किसी पुराने शासक कर्नक के नाम पर एक हट-हाट बसी हुई थी। यही नहीं, वहां पर राजा लखनदेव का एक छोटा सा महल था। अपनी एकांतता और आस-पास के रमणीय सौंदर्य के कारण वह महल अकसर खाली नहीं रहता था। तेरहवीं शताब्दी के प्रथम पाद में महल में राजसी तड़क, भड़क दिखाई पड़ती थी, परन्तु आज उस पर उतनी हंसी और प्रसन्नता के चिह्न नहीं दिखाई पड़ते। वहां एक विचित्र तरह की निष्क्रियता और नीरवता सी छाई दिखाई पड़ती है। कारण जानने के लिए बहुत माथापच्ची करने की आवश्यकता नहीं। भिक्षु तथागत श्री और पण्डित माहव (माधव) के महल के उत्तर की तरफ के पोखरे के पूर्व वाले भींटे पर, एक पेड़ के नीचे बैठे, बड़ी गम्भीरता से बातचीत कर रहे हैं, जिससे इस समय की स्थिति का कुछ पता लग सकता है।

भिक्षु तथागतश्री के शरीर पर ताम्र वर्ण का चीवर पड़ा है। उनका सिर घुटा हुआ है। आयु पचास के करीब होगी, लेकिन स्वास्थ्य के कारण वे तीस से अधिक के नहीं मालूम होते। उनके शरीर का रंग भी कुछ-कुछ चीवर के रंग से मिल जाता है। चेहरा सुन्दर और सौम्य है। आंखों की चमक से पता लगता है कि वे मेधावी पुरुष हैं। इस समय जरूरत से अधिक गम्भीरता उनके चेहरे पर है। माहव पण्डित उनसे दो-चार वर्ष ही उम्र में कम होंगे, पर वे अपनी उम्र से भी दस वर्ष और बूढ़े मालूम होते हैं। उनके गोरे मुंह पर सारी मूंछें सफेद हैं, सिर के बाल भी सन से हो गए हैं, चेहरे पर झुर्रियां हैं। उनके शरीर पर नीचे धोती और ऊपर एक सफेद चादर है। लम्बी शिखा पीछे की ओर बंधी है। दोनों यद्यपि एक धर्म के मानने वाले नहीं हैं, पर संस्कृति एक होने से उनका मतभेद बहुत सीमित ही है। दोनों ने कई साल तक साथ ही वाराणसी में अध्ययन किया है—कितने विषयों को तो एक ही गुरु से; इसलिए दोनों में

विशेष आत्मीयता है । आज की स्थिति से दोनों एक समान चिन्तित हैं।

माहव पण्डित कहते हैं—"भन्ते तथागत, ज्योतिष मैंने भी पढ़ा है; पर ज्योतिषियों की भयंकर भविष्यवाणियों पर मैं विश्वास नहीं रखता—न पुराने ग्रन्थों में म्लेच्छ राज्य के कायम होने की बात पर ही मेरा विश्वास है । पर मुझे इसका अर्थ समझ में नहीं आता कि हमारे इतने बड़े देश में—जहां करोड़ों आदमी रहते हैं और जिनमें वीरता की कमी नहीं है—कैसे ये थोड़े से तुर्क सवार गांवों-नगरों को लूटते, आग लगाते, चीरते-फाड़ते, अजेय हो, बनारस और आगे तक को अपने अधिकार में लेने में सफल हुए हैं ?"

तथागत—"भाई, इसमें चकित होने की आवश्यकता नहीं । जो बात आंखों के सामने देखी जा रही है, उसमें सन्देह करने की गुंजाइश ही क्या है ? तुर्क अजेय हैं—उन्होंने सिन्ध को लिया, कन्नौज को लिया, दिल्ली में अपनी राजधानी बनाई, वाराणसी को मटियामेट किया, और अब गंगा के दक्षिण-पूर्व का बहुत सा भाग भी उनके हाथ में चला गया है । नालन्दा की ईंट-से-ईंट बज गई, उसके देवालय और पुस्तकालय राख बन चुके हैं । काबुल से भी पश्चिम कहां तुर्कों का अपना मूल स्थान, और कहां वाराणसी और नालन्दा !"

"यही तो समझ में नहीं आता कि हमारे लोगों ने कम बहादुरी से मुकाबला नहीं किया, तब भी इस बाढ़ को रोकने में सफल नहीं हुए।"

"माहव पण्डित, हम भी कैसे परस्पर विरोधी विचारों के मिश्रण हैं ! यहां महाराज लखनदेव की मंगलकामना के लिए हम पुरश्चरण कर रहे हैं । मैं तारा और महाकाल की पाठ-पूजा कर रहा हूं, और आप सिंहवाहिनी देवी की । हमें अब तक की घटनाओं को देखते-सुनते विश्वास हो गया है कि तारा और सिंहवाहिनी, दोनों में से किसी के पास भी ऐसी शक्ति नहीं है कि हमारी रक्षा कर सकें । अगर शक्ति होती, तो वाराणसी और नालन्दा के साथ और भी कितने ही हमारे तीर्थ और देवालय राख के ढेर न बनते !"

"आपकी बात से मेरा मतभेद नहीं हो सकता, यह आप जानते ही हैं।"

"तो हमें मानना पड़ेगा कि सिन्ध से सोनभद्र तक हमारे देश में आदमी नहीं, बल्कि भेड़ें बसती हैं, जो मुट्ठी भर तुर्कों के सामने मरने और भागने के सिवा और कुछ कर नहीं सकतीं। लेकिन मैं ऐसा नहीं मानता। वस्तुत: हमारे लोग भेड़ नहीं हैं, उन्हें जान-बूझकर भेड़ बनाया गया। मैं दूसरे देशों में भी गया हूं। देश के ऊपर संकट आने पर वहां का बच्चा-बच्चा शत्रु का मुकाबला करने के लिए तैयार हो जाता है—स्त्रियां भी मर्दों का अनुकरण करने से पीछे नहीं रहतीं। क्या हमारे यहां ऐसा हो रहा है?"

"नहीं, हमारे यहां तो क्षत्रियों का ही काम शस्त्र-तलवार उठाना है।"

"और केवल क्षत्रिय, क्षत्राणियां नहीं जिन्हें अपनी लाज बचाने के लिए केवल आग में जल मरने की शिक्षा दी गई है; क्षमा करें, अपनी जाति-व्यवस्था के ऊपर कुछ कड़े शब्द कहने के लिए।"

"क्षमा की कोई आवश्यकता नहीं।"

"देश के रक्षक क्षत्रियों की संख्या तीस में एक से अधिक नहीं है, और उस एक में से भी आधी स्त्रियां केवल जीती चिता पर जल सकती हैं, अर्थात साठ में से एक क्षत्रिय पुरुष है। उनमें भी बच्चों-बूढ़ों को हटा दिया जाए, तो मेरी जनता में सौ में से एक ही योद्धा रह जाता है, अर्थात बाकी निन्यानवे भेड़ें हैं।"

"और, इन्हीं भेड़ों में से कुछ जब तुर्कों में जा मिलती हैं, तब उन्हें शेर बनते देर नहीं लगती।"

'आपका संकेत वाराणसी के तन्तुवायों की ओर है, जो अब म्लेच्छों के धर्म में चले गए हैं और जो हिन्दुओं को काफिर मान कर उनके सौ के मुकाबले में एक को काफी समझते हैं।"

"इसमें क्या शक है?"

"और साहब जी, सौ में से भी जो एक तलवार उठा सकता है, वह भी आपस की शत्रुता के कारण मिलकर शत्रु से मुकाबला करने के लिए तैयार नहीं है। वाराणसी पर तुर्कों का अधिकार होने पर महाराज

जयचन्द के उत्तराधिकारी महाराज हरिश्चन्द्र अब भी संघर्ष करते रहे हैं। इधर, हमारे छोटे-बड़े क्षत्रिय सामन्तों का अपने ऊपर इतना कम विश्वास रह गया है, कि वे तुर्कों के सामने सिर झुकाने के लिए होड़ करने लगे हैं। पर यदि तुर्क इस तरह उन्हें सस्ते छोड़ दें, तो उनकी अपार सेना की लूट और खर्च के लिए धन कहां से आएगा ? इसी-लिए वे जहां भी धन-सम्पत्ति की सम्भावना देखते हैं, वहां आग-तलवार लेकर दौड़ पड़ते हैं। सबसे पहले उनकी नजर उन स्थानों पर जाती है, जहां अपार धन राशि जमा है।"

"शायद इसीलिए हमारा इलाका तुर्क सवारों के घोड़ों की खुरों से रौंदा नहीं गया, क्योंकि यहां वैसी अपार धन राशि की सम्भावना नहीं है।"

"पर धन राशि तो है ! हमारे महाराज ने वाराणसी जाकर बड़ी-बड़ी भेंट तुर्क सिपहसालार को दी, लेकिन जान पड़ता है, वह इन्हें भी नहीं छोड़ेगा।"

"तो करना क्या है ? क्या तारा और सिंहवाहिनी की पूजा तक ही हमको रहना चाहिए ?"

"और अपने को इनके सामने तुर्क तलवारों द्वारा बलि चढ़वा कर, फिर इन्हें भी उनके हथौड़ों से चूर-चूर होने देना चाहिए ?"

"भन्ते तथागत ! बड़ी विडम्बना, नहीं, बेबसी है।"

"हमने स्वयं अपने को बेबस बना लिया है। हमारे लोगों को अब भी इतना ध्यान नहीं आया कि आपस की दुश्मनी को भूल कर, मिल जाएं और म्लेच्छों का मुकाबला करें। सभी सामन्त और राजा अपनी खानदानी दुश्मनी और स्वार्थ को इतनी जल्दी भूलने के लिए तैयार नहीं हैं। हमारे इस इलाके में क्षत्रियों का बोलबाला है। हमारे पूर्व और पश्चिम के कितने ही भागों में भूमिहार सामन्त हैं। भूमिहारों और क्षत्रियों में सांप और नेवले का सम्बन्ध है। जब तुर्कों के कृपापात्र बनने का सवाल आता है, तो ये एक-दूसरे से आगे बढ़ कर सिर झुकाने के लिए तैयार हो जाते हैं।"

भिक्षु तथागतश्री और पण्डित माह्व की बातचीत से मालूम हो गया कि शिशपा (सिसवा) नगरी और उसके उपनगर कर्नहट पर भारी संकट की सम्भावना है।

(2)

तुर्क सिपहसालार सैयद अकरम बनारस से उत्तर की ओर अपने सवारों को लेकर चला। उसकी ही कृपा पर अपेक्षाकृत शान्त इस इलाके की लूट से जितना मिल सकता था, उतना भेंट से कहीं मिलता? सिपहसालार के सैनिक भी चुपचाप मक्खी मारने के लिए तैयार नहीं थे—उन्हें भी लूट का धन चाहिए था। तेरहवीं सदी के आरम्भ के तुर्क सैनिकों का यह मनोभाव नहीं था, बल्कि उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के अंग्रेज सैनिक भी लूट के धन के उतने ही इच्छुक थे। क्लाइव, हेस्टिंग्स और उनके योद्धा ही नहीं, बल्कि बहुत पीछे सिन्ध को विजय करने वाले जनरल से सिपाही तक लूट में अपने को हकदार समझते थे। उटरम की लूट से तीन हजार पौंड मिले थे, यद्यपि अब लड़ाई का उद्देश्य लूट कहने में संकोच किया जाता था। सिपहसालार सैयद अकरम और उनके स्वामी को इसे छिपाने की जरूरत नहीं थी। माल-गनीमत बिलकुल धर्मानुकूल अर्जित सम्पत्ति थी—साथ ही, काफिरों से मिलने से उसका महातम दूना था, काफिरों के साथ युद्ध करना फर्ज था।

सौ में से एक ही आदमी चाहे योद्धा हो, लकिन हमारे वीरों ने कभी अपनी मां के दूध को नहीं लजाया। दुश्मन का मुकावला उन्होंने डट कर किया; लेकिन आक्रमणकारी प्रतिरक्षक से कहीं अधिक बलवान सिद्ध होता है, क्योंकि युद्ध के स्थान और काल का निश्चय करना उसके हाथ में होता है। और भी कितने ही राज्यों की शिशपा (सिसवा) जैसी अपनी-अपनी छोटी-मोटी राजधानियां थीं। मालूम नहीं था कि सिपहसालार के घोड़ों की लगाम किधर खिंचेगी, इसीलिए सभी अपनी-अपनी रक्षा की तैयारी को छोड़ नहीं सकते थे; अतएव सब मिल-कर लड़ नहीं सकते थे। लखनदेव राजधानी से पांच कोस दक्षिण

डोभांव में अपने सैनिकों को लेकर प्रतीक्षा कर रहे थे। लेकिन शत्रु प्रतिस्पर्धा के निश्चित किए हुए स्थानों पर क्यों युद्ध करने लगा? साथ ही, वह यह भी नहीं चाहता था कि इसका पता शत्रु को लग जाए। उसने डोभांव की ओर भी कुछ सवार भेजे, लेकिन अपनी मुख्य सेना को उसने उत्तर से बहुत आगे बढ़ाया। इसका पता जब लगा, तो लखनदेव को राजधानी के दुर्ग की सहायता लेने के सिवाय कोई चारा नहीं रह गया। सारे राज्य को लूटते-जलाते तुर्क सवार सिसवा के गढ़ पर पहुंचे। लखनदेव ने जम कर लड़ाई की। उनके योद्धा भली प्रकार जानते थे कि पराजय का मतलब सर्वनाश है – हाथ में पड़े किसी योद्धा पर तुर्क दया नहीं दिखाएंगे। उनके लिए काफिर की गर्दन तलवार के लिए ही है। दीन के लिए इससे बढ़कर अच्छी बलि कोई नहीं हो सकती। स्त्रियां उनके हाथ में पड़ कर भ्रष्ट और पराई हो जाएंगी। पूर्वजों के समय से प्राणों की तरह जिस धर्म को वे मानते आए थे, उसका चिह्न भी तुर्क नहीं छोड़ेंगे। जो हालत वाराणसी के विश्वनाथ और कालभैरव के मन्दिरों की हुई, वहां के धर्म चक्र-प्रवर्तन (सारनाथ) के विहारों की हुई, वही यहां भी होगी।

पर उनकी सारी बहादुरी का कोई फल नहीं हुआ। वाराणसी के तन्तुवाय सारे के सारे तुर्क (मुसलमान) हो चुके थे। वे तुर्कों की तलवार को विजयी देखना चाहते थे। अपने मालिकों और सहधर्मियों के लिए वे सब कुछ करने को तैयार थे। उस समय लोगों के कपड़ों की सारी आवश्यकता इन्हीं तन्तुवायों के करघों से पूरी होती थी, इसलिए उनकी संख्या काफी होनी ही चाहिए थी। वाराणसी अज्ञात काल से अपने कपड़ों के लिए मशहूर था। वहां के तन्तुवाय अपने शिल्प में बड़े कुशल थे। उनके हाथों से बने रेशमी और सूती सुन्दर वस्त्र भारत में और भारत के बाहर भी अच्छे मूल्य पर बिकते थे। यद्यपि तन्तुवाय शूद्र—अर्धहरिजन – थे, किन्तु उनकी आर्थिक स्थिति दीन-हीन नहीं थी, बल्कि कितने तो काफी सम्पन्न थे। उनके आत्म-सम्मान को बड़ी ठेस लगती थी, जब वे देखते थे कि हम में से सम्पन्न-तम और संस्कृततम पुरुष को भी बड़ी जाति वालों के सामने अपमानित

होना पड़ता है। शायद इस अपमान को वे विधि का विधान ही समझते रहते, यदि तुर्कों के साथ तुर्क बन कर आए उनके पश्चिम के भाइयों ने उनकी आंखें न खोली होतीं। अब वे तन्तुवाय की जगह जुलाहा कहा जाना अधिक पसन्द करते थे।

सिसवा राजधानी में तन्तुवायों की काफी संख्या थी। उनमें से कुछ के रिश्ते-नाते वाराणसी में भी थे। यद्यपि वहां वाले अब तुर्क हो चुके थे, लेकिन अपने साले-बहनोइयों, नानों-मामों, सगी बहनों, बुआओं को इतनी जल्दी कैसे भूल जाते? जाति ने नियम बता दिया था कि तुर्क हो गए आदमियों को बहिष्कृत समझा जाए। उनके साथ खान-पान करने वाला भी तुर्क माना जाएगा, पर इस नियम का पालन अभी उतनी कड़ाई से नहीं हो रहा था। कुछ तुर्क बने तन्तुवायों को तो तुर्क शासक अब भी हिन्दू के रूप में रखकर उनका उपयोग करना चाहते थे। सिसवा में ऐसे भेदिए तन्तुवाय पहुंच चुके थे। वे तुर्क शासकों की उदारता और समानता का भीतर ही भीतर कितने ही सालों से प्रचार कर रहे थे—"तुर्क हो जाने पर हमारे अगुवा सिपहसालार के साथ एक दस्तरखान पर खाना खाते हैं—एक पांती में पूजा करते हैं। हमारी लड़कियों को ऊंचे से ऊंचा तुर्क अधिकारी अपनी बीवी बनाने के लिए तैयार है!" आदि-आदि।

प्रतिरक्षा केवल ईंटों और दीवारों, तीरों और तलवारों से नहीं होती—उसके लिए आदमियों की भी ठोस ईंटें चाहिए। सिसवा की कितनी ही ईंटें खिसक चुकी थीं। तुर्कों के भेदिए अपने काम में सफल हो चुके थे। दुर्ग के भीतर रक्षा का कहां कैसे प्रबन्ध है और क्या हो रहा है, इसकी एक-एक बात दुश्मन के पास पहुंच रही थी। सैयद अकरम को बहुत समय तक वत्स-बच्छवल्ली (बछवल) में प्रतिरक्षा नहीं करनी पड़ी। एक अंधेरी रात को थोड़े से तुर्क सैनिक नगर के भीतर के अपने पक्षपाती तन्तुवायों की सहायता से प्राचीर फांद कर भीतर घुसने में सफल हुए। उनकी संख्या शत्रुओं के सामने कुछ भी नहीं थी, लेकिन रात के अंधेरे में वहां संख्या गिनने वाला कौन था? उन्होंने उत्तरी फाटक पर पहले अधिकार कर उसे खोल

दिया। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उस रात को सिसवा वाले घास-मूली की तरह काटे गए। कौन सैनिक है और कौन असैनिक, यह जानने की किसी को फुर्सत नहीं थी। सुबह होने के पहले सिसवा वालों का प्रतिरोध बहुत निर्बल रह गया था। सारी तुर्क सेना गढ़ के भीतर पहुंच चुकी थी। राजप्रासाद और धनियों के घरों को लूट कर उन्होंने बहुत सा धन इकट्ठा कर लिया और जिन घरों से कुछ भी प्रतिरोध हुआ, उनमें आग लगा दी। धन लूटने के साथ-साथ उन्होंने सिसवा की सुन्दरियों को भी बड़ी संख्या में जमा कर लिया। पर सैयद अकरम को यह सब देखकर भी उतनी प्रसन्नता नहीं हुई, क्योंकि मरे हुओं में लखनदेव की लाश का कहीं पता नहीं था। लखनदेव अब भी जीवित है! वह साधारण शत्रु नहीं था। यद्यपि उसको उसने सालों तक परेशान नहीं किया, लेकिन उसका युद्ध का कौशल और सैनिकों का बल नगण्य नहीं था।

जिन्होंने गढ़ के भीतर घुसने में सैयद अकरम की मदद की थी, उनसे लखनदेव की कोई बात छिपी नहीं थी। पता लगा, वह अपने कर्नहट के प्रासाद में जाकर मुकाबला करने की तैयारी कर रहा है। सैयद ने अपने छोटे भाई मकरम को कुछ सैनिक देकर गढ़ में छोड़ दिया और स्वयं कर्नहट की ओर बढ़ा। वह तो राजधानी का ही एक भाग था। जाने में देर क्या लगती? कर्नहट को भी लखनदेव ने एक कोट का रूप दे रखा था, जहां बचे-खुचे आदमियों को साथ लेकर वह तैयारी कर रहा था। जब सिसवा का गढ़ मुकाबले में ठहर नहीं सका, तो यह क्या ठहरता? इस बार लड़ाई दिन में हुई और साठ साला लखनदेव ने जिस बहादुरी का परिचय दिया, उससे देवता भी ईर्ष्या कर सकते हैं—लखनदेव को सिर्फ इतनी ही सफलता मिली।

सैयद अकरम ने सिसवा से कर्नहट को अधिक पसन्द किया, और लखनदेव के कोट में ही रहने का उसने निश्चय किया।

कर्नहट में तन्तुवायों, धनकों-जैसी शिल्पी जातियों की संख्या बहुत नहीं थी, पर चूड़ी बनाने वाले चूड़ीहार और दर्जी काफी संख्या में यहां रहते थे। कोइरी, सोनार, लोहार, बढ़ई जैसे लोग भी थे। यद्यपि

ये बड़ी जातियों की दृष्टि में नीच थे, पर उतने नहीं, जितने कि तन्तुवाय, चूड़ीहार, आदि। सैयद अकरम के कर्नहट में आते ही वहां के चूड़ीहारों, सूचीहारों, आदि की अपनी जातीय पंचायत बैठी। वाराणसी से आए उनके जाति मुखियों ने तुर्कों के धर्म, शासन और शक्ति की महिमा बतलाई और यह यों कि हमारे वाराणसी के सारे जाति-भाई अब तुर्क धर्म में दीक्षित हो गए हैं, इसलिए तुम्हें भी उसी को स्वीकार करना चाहिए। शताब्दियों से जिस धर्म को वे मानते आए थे, उसे एक दिन में वे कैसे छोड़ सकते थे ? उनको मनुष्य से भी ज्यादा अपने देवताओं का डर था। मनुष्यों में तो वे जानते ही थे कि सबसे सबल तुर्क है, और अपनी जाति में कोई उंगली तभी उठा सकता है, जबकि वह तुर्क न हो और अपनी बहुसंख्यक जाति का बल उसे प्राप्त हो। उनके जिन मन्दिरों में वे भीतर या बाहर से पूजा करने जाते थे, उनमें से किसी एक भी मूर्ति को तुर्कों ने खण्डित किए बिना नहीं रखा था। मूर्तियों को खण्डित करके वे दिखलाना चाहते थे कि तुम्हारे देवता झूठे हैं, और केवल हमारे अल्लाह की तलवार ही सच्ची है। कर्नहट से विहार के महाकाल अब टुकड़े-टुकड़े थे। शिल्पकारों में काफी संख्या बौद्धों की थी और दूसरी बड़ी-छोटी जातियों में भी बौद्ध धर्म वालों की कमी नहीं थी, यद्यपि उस समय किसी जाति के बारे में नहीं कहा जा सकता था कि वह एकान्ततः बुद्ध या ब्राह्मणों की अनुयायी है। सहस्र वर्ष पहले जिन देव-मूर्तियों की स्थापना हुई थी, वे भी सैयद अकरम की देहली में पड़ी हुई थीं, जिन पर पांव रख कर लोग भीतर आते-जाते थे। देवता इतने निकम्मे साबित होंगे, इसका किसी को खयाल नहीं था। सो, बहुत दिन नहीं लगे, जब कर्नहट के चूड़ीहारों, सूचिकारों और धुनियों ने तुर्क धर्म को अपनी पंचायत के निर्णय के अनुसार स्वीकार किया। उनके फिर इस्लाम से हट जाने का डर नहीं हो सकता था। जब गोमांस उनके मुंह में पड़ चुका, तो कौन उन्हें हिन्दू मानने के लिये तैयार था ? सैयद अकरम ने गोमांस के कच्चे टुकड़े मंगाए और उनको हरेक घर के मुखिया के मुंह में एक-एक क्षण रख कर हटा लिया। अब शिल्प-

कार सदा के लिए हिन्दुओं के विरोधी और विदेश से आए तुर्क शासकों के अत्यन्त फरमाबरदार बन गए।

(3)

सैयद अकरम ने आरम्भ के कुछ वर्षों में ही तलवार का जौहर दिखलाया। प्रतिरोध अधिकतर सम्पत्तिशाली, अर्थात बड़ी जाति के, लोगों से था। वे बड़ी संख्या में तलवार के घाट उतारे गए, उनके घरों को जला दिया गया। इज्जत जाने का इतना भय था कि उनमें से बहुतेरे अपना देश छोड़कर सुदूर सरजू पार या दूसरी जगहों में भाग गए। उनके घरों का कुछ ही दिनों में पता नहीं था। सैयद के सुर्खरू बनकर अपनी जगहों पर सारे अत्याचार और अपमान को सहने के लिए बहुत कम लोग रह गए। हरिजन और अर्धहरिजन प्रायः सम्पत्ति से वंचित थे। उन्हें अपने हाथों की कमाई पर जीना था। ऐसे लोगों को खत्म करना या बराबर छेड़ते रहना कोई भी शासक पसन्द नहीं करेगा। जिस समय की यह घटना है, उसी समय मध्य एशिया के बुखारा, समरकन्द जैसे बड़े-बड़े नगरों पर चिंगेजखान ने वैसी ही क्रूरता के साथ अधिकार प्राप्त किया था, जैसे भारत में तुर्कों ने। फर्क इतना ही था, कि चिंगेज अपनी विजय के साथ दीन-धर्म का नाम नहीं जोड़ता था। वह सम्पत्तिशाली, ऊपरी वर्ग के, लोगों का जरा भी प्रतिरोध करने पर कत्लेआम करता था। लेकिन इसके लिए जब वह पुरुषों को शहर से बाहर निकालता, तो शिल्पियों को अलग करके पहले अभयदान दे देता। सैयद अकरम के शासन-केंद्र के आस-पास हिन्दू शिल्पी, सोनार, लोहार, बढ़ई, माली, आदि अब आरम्भिक दिनों को भूलकर अपने काम में पूर्ववत लगे हुए थे। शत्रुओं के स्वयं दूर भाग जाने से अब सैयद निश्चिन्त था।

जवानी की उमर में सैयद अकरम खूंख्वार जरूर था—और उस समय का कौन-सा सिपहसालार था, जो खूंख्वार न होता, खासकर जो अपने देश से हजारों मील दूर चला आया था और मातृभूमि के मंगोलों के हाथ में चले जाने से वहां फिर लौटने की सम्भावना नहीं थी—पर उमर के बीतते-बीतते शान्ति और निश्चिन्तता के जीवन ने

सैयद अकरम को विलासी बना दिया। उसके हरम में लखनदेव क रनिवास की सुन्दरियां अब उमर में ढल चुकी थीं ! फिर सैयद को उतने से ही सन्तोष कहां हो सकता था ? एक-एक सुन्दरी तो पहले ही चुन ली गई थी, लेकिन उनके आगम का रास्ता बन्द नहीं था। सालार के दरबारियों में कितनों का काम ही था सैयद के लिए नई सुन्दरियां जुटाना। कहीं भी किसी सुन्दरी तरुणी का पता लगता तो उसे सैयद के पास पहुंचाने में देर नहीं होती। लोगों ने डर के मारे अपनी लड़कियों का तरुणाई से पहले ही ब्याह करना शुरू कर दिया। लेकिन सैयद के लिए ब्याहता और अब्याहता का कोई सवाल नहीं था। हां, ब्याह होने से जल्दी सन्तान हो जाने की सम्भावना थी और सन्तान वाली स्त्री की कीमत सैयद की नजर में गिर जाती थी। बड़ी जाति वालों ने इसी समय अपनी स्त्रियों की रक्षा के लिए उन्हें जवानी में पर्दे में रखना आरम्भ किया।

सैयद ने यह कायदा बनाया था कि जो भी स्त्री गौने आए, उसे एक रात के लिए कोट में ले जाया जाए। इस नियम का उल्लंघन कितने लोग कर पाए होंगे, यह कहना मुश्किल है। और, जब यह छिपा हुआ भेद हो, और यह भी समझा जाता हो कि इससे धर्म या जाति के जाने का प्रश्न नहीं है, तो कितनों ने ही इसको अपनाकर आत्म-रक्षा की होगी, यह निश्चित है। जब सिपहसालार स्वयं इस तरह कर रहा है, तो उसके नीचे के दूसरे तुर्क सरदार अपने मालिक के पथ पर थोड़ा भी चलने से कैसे बाज आते—विशेषकर जब इस तरह का सम्बन्ध उनके दीन की वृद्धि में सहायक था।

कर्नहट में अब भी पुराने जमाने की कितनी ही पोखर-पोखरियां हैं, जिनमें से बहुतों का रूप इतना बदल गया है कि आज उनको देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि पहले वे किसी दूसरे ही भव्य रूप में रहे होंगे। बड़ी पोखरी, किसी आदमी की खुदाई हुई किसी छोटी पोखरी-जैसी नहीं, बल्कि छोटी झील जैसी मालूम होती है। उसके अतीत के गौरव का कहीं कोई पता नहीं है, लेकिन धरातल से कुछ हाथ नीचे, सैकड़ों गज तक, मौर्य कालीन ईंटों की चिनाई चली गई है। सैयद के

कोट से पूर्व इसी तरह का एक पोखरा दलसागर है। दलसागर का अर्थ है, सेना के लिए बनवाया गया कोई विशाल पोखरा। सागर छोटे या मंझोले पोखरे का नाम नहीं होता। आजकल के उसके छोटे से आकार को देखकर यह नाम मजाक सा मालूम होता है। साधारण सागरों को तो छोड़िए, इस दलसागर का पानी भी वर्षा के बीतने के कुछ ही हफ्तों बाद सूख जाता है। पर सैयद अकरम के समय दलसागर काफी बड़ा पोखरा था, जिसे लखनदेव के किसी पूर्वज ने अपनी कीर्ति अमर करने के लिए ही नहीं बल्कि घोड़े-हाथियों की सेना के उपयोग के लिए खुदवाया था।

गर्मी का महीना था, जिसमें आदमी - विशेषकर यात्री—को सबसे प्रिय होता है जलाशय और उसका जल। उत्तर में बडुउर—भद्रपुर बड़ौरा—से एक ढंकी डोली के साथ-साथ कुछ आदमी दक्षिण की ओर जाते दिखाई पड़े। दोपहरी इतनी तपी हुई थी कि वे दलसागर के करीब पहुंचकर उधर मुड़ने से अपने को रोक नहीं सके। कहारों की प्यास से बुरी हालत थी। शायद वे लोग काफी दूर से आ रहे थे और काफी दूर जाने वाले थे। दलसागर के पश्चिम वाले घाट पर कहारों ने डोली रख दी। साथ के सरदार भी वहीं उतर पड़े। आम की छाया सिर पर बहुत प्रिय लगती है। दलसागर में उतर, कुछ लोगों ने हाथ-मुंह धोया और कुछ ने स्नान भी किया। खा-पीकर दोपहरी बिताकर वे वहां से जाना चाहते थे। पर अभी वे खाने में हाथ ही लगा रहे थे कि उनके पास चार प्यादे पहुंचे। आते ही उन्होंने कहारों से कहा—"डोली को कोट में ले चलो।" उसके बाद ही हाट से निकलकर कुछ और आदमी भी आ गए। हाट दलसागर के पास तक बसी हुई थी। उन्होंने भी कहा—"हर डोले को एक रात के लिए कोट में जाना पड़ता है। यही सैयद साहब का हुक्म है।" ऐसा कहने वाले हिन्दू थे। उनमें से एक ने मुखिया सरदार (जो खुद वर था) को अलग ले जाकर समझाया—"आपको इधर से नहीं आना चाहिए था। क्या सैयद के अत्याचारों का आपको पता नहीं था? अब आ गए, तो इसके सिवा कोई चारा नहीं है। अभी और भी सिपाही आ

रहे हैं। हथियार लेकर इनका मुकाबला नहीं किया जा सकता। सैयद राज्य के सभी हिन्दू ऐसा करके ही अपने प्राणों की रक्षा कर रहे हैं। आगे आपकी जो मर्जी।"

दूल्हा अपनी पत्नी को गौना कराकर ले जा रहा था। वह सैयद के राज्य के बाहर दक्षिण में किसी जगह का रहने वाला था। उसे सैयद के अत्याचारों का पता नहीं था, नहीं तो ऐसी गलती हरगिज नहीं करता। अपने साथियों से उसने सलाह की। यही मालूम हुआ कि लड़ते हुए मरकर भी हम अपने सम्मान और धर्म की रक्षा नहीं कर सकेंगे। अब तक सैयद के और कितने ही प्यादे आकर डोली को घेर चुके थे। तरुण अपने ब्राह्मणत्व के सम्मान को अपने प्राणों से भी बढ़ कर समझता था। एक रात अपनी पत्नी को सैयद के कोट में रख कर वह फिर उसे ले, कौन मुंह से अपने घर जाएगा ? दूसरे चाहे जहां भेद न भी खोलें, लेकिन उसका मन कैसे इस अपमान को जीवन-भर के लिए सह सकेगा ? उसने प्यादों से कहा—

"हम आप लोगों के अधीन हैं। सैयद साहब से लड़ने की न हमारे पास शक्ति है और न हिम्मत। राजा लखनदेव उनसे लड़ कर सफल नहीं हुए, तो हमारी क्या मजाल है। हम डोले को कोट में भेजने के लिए तैयार हैं। पर, नई दुलहिन है—उसको कुछ पता नहीं है। वह अकेली जाकर घबरा उठेगी और न जाने फिर क्या कर बैठेगी। इसलिए मुझे उसे समझा लेने भर की छुट्टी दीजिए।"

सैयद के आदमियों को इसमें क्या एतराज हो सकता था। वे डोले के पास से हट गए और ब्राह्मण तरुण को अपनी पत्नी से बात करने की छुट्टी दे दी। डोली के पर्दे में बैठकर तरुण ने अपनी पत्नी को सारी स्थिति बतलाई और कहा कि तुम्हारे कोट में जाने से पहले मैं अपने पेट में कटार मार लेना चाहता हूं।

पत्नी घबराई। सैयद के कोट में एक रात रह कर वह अपने पति के साथ सती होने के लायक भी तो नहीं रह जाएगी। उसने आंसू बहाते हुए, पर दृढ़ता के साथ कहा—"आपका कहना ठीक है। धर्म खो कर अपमान सहने से मर जाना अच्छा है। पर मुझे धर्म खोने के लिए

क्यों छोड़ते हो। पहले मुझे खत्म कर दो और फिर अपने आपको कटार मार लो।''

इतनी बातचीत के बाद पत्नी की छाती में कटार घुसेड़ कर, उसी खूनी कटार को अपनी छाती में घुसेड़ने में यद्यपि बहुत देर नहीं लगी, पर उसके बाद जब ब्राह्मण को देर तक आते नहीं देखा, तो प्यादों ने डोली के पास पहुंच कर पुकारा। कोई जवाब न पा पर्दे को हटाया, तो देखा, वहां दोनों मरे पड़े हैं—उनकी छाती से अब भी खून की धार बह रही है।

सैयद के कोट में डोला नहीं जा सका। कर्नहट के लोगों में एक विचित्र उत्तेजना फैली। हिन्दू आपस में इसके लिए इतना अफसोस कर रहे थे, जैसे उनके घर का आदमी मारा गया हो। वे दोनों तरुणों की धर्मनिष्ठा की प्रशंसा कर रहे थे। मुर्दों से सैयद का कोई काम नहीं था। कर्नहट के लोगों ने दोनों की लाशें एक चिता पर मूक संवेदना और सम्मान के साथ जला दीं। उनका आत्मोत्सर्ग ऐसा नहीं था कि भुलाया जाता। किसी ने दलसागर के उसी स्थान पर मिट्टी की दो छोटी-छोटी पिंडियां बना कर रख दीं, जो प्रति बरसात में पिघल कर विकृत हो जातीं, और बरसात के अन्त में कोई अज्ञात हाथ उन्हें फिर बना देता। सैयद के समय तक किसी की हिम्मत नहीं हुई, कि वहां ऐसी पिंडियां बनाता, जो एक बरसात से अधिक ठहर सकतीं। सैयद मर गया, उसके वंशज भी कर्नहट के कोट में नहीं रह गए, तब किसी ने मिट्टी की दो बड़ी पिंडियां बरम और बरमाइन के नाम से बनवा दीं। पहले भी लुक-छिपकर कोई मनौती के लिए दूध की धार दे जाता था—अब वह खुल कर चढ़ने लगी। कितनी ही सदियों बाद किसी ने उन पिंडियों के पास बरगद का पौधा लगा दिया, जो बढ़ कर एक बड़ वृक्ष के रूप में परिणत हो गया।

* * * *

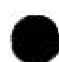
दलसागर के किनारे इस बड़ के नीचे इन दोनों पिंडियों को देखकर आज के कनैला के रहने वालों के दिल में वह सात शताब्दी पहले की

भीषण घटना जागृत हो जाती है। आज भी दूध चढ़ाने की मनौती मानी जाती है। लेकिन, वह गांव भर तक ही सीमित है। भूत भगाने और दूसरे चमत्कारों में दलसागर के बरम-बरमाइन ने कोई करामात नहीं दिखाई, इसलिए वहां कोई बड़ा स्थान नहीं बन शका। पिंडियां पहले की तरह अब भी मिट्टी की ही हैं।

लेकिन पूजा केवल इन्हीं दोनों पिंडियों की नहीं होती। कर्नहट का बाजार कब का विस्मृत हो चुका। सैयद के कोट के बहुत से भागों पर अब खेत हैं, जो बहुत ही उपजाऊ माने जाते हैं और जिनके ऊपर अब शताब्दियों से वंचित छोटी जाति वाले भी अपना अधिकार मनवाना चाहते हैं। इन्हीं खेतों में, जैसा कि पहले बतलाया, थोड़े से पांच-चार गज लम्बे-चौड़े टीले को छोटा कोट कहते हैं। यहां के नीम और झाड़ियों को इस शताब्दी के आरम्भ में कोई हानि पहुंचाने की हिम्मत नहीं करता था। इन्हीं कंटीली झाड़ियों के ऊपर लताएं छाई हुई थीं, जिनमें मौसम के समय लाल-लाल पके बिम्ब के फल दिखलाई पड़ते थे। झाड़ी के भीतर दो-चार ईंटें हैं, जो आकार से बहुत पुरानी नहीं कही जा सकतीं। सैयद अकरम की कोट की बैठक शायद यहीं रही हो। इन्हीं ईंटों को 'सैयद की कब्र' या 'सैयद बाबा' कहा जाता है, जहां चूड़ीहार और दूसरी मुसलमान जातियों के लोग ही घी-मलीदा नहीं चढ़ाते, बल्कि हिन्दू स्त्रियां भी पूजा करने जाती हैं। उनका विश्वास है कि सैयद बाबा मनोकामना जरूर पूरी करते हैं। कनैला के मथुरा पाण्डे ने इस शताब्दी के आरम्भ में सैयद की महिमा बढ़ाने में काफी हाथ वंटाया था। हो सकता है कि उन्होंने अपने पूर्वजों का अनुसरण किया हो। वह गांव के एकमात्र और प्रसिद्ध ओझा—सयाना—थे, जिनके पास आश्विन-नवरात्रि में आस-पास के भी कितने ही लोग—विशेषकर लुगाइयां—अपना दु:ख दिखाने आती थीं। भूत भगाने में उनकी काफी ख्याति थी। उनके खेत सैयद के कोट के पास थे, इसलिए वे कितने ही बार अपनी आंखों-देखी बातें बतलाते थे। कहा करते थे "आधी रात की चांदनी में सैयद अपनी नीली घोड़ी पर चढ़कर निकलते हैं। घोड़ी की हिनहिनाहट की आवाज

दूर तक सुनाई देती है। फिर चारों ओर घूम कर कभी-कभी अपने भाई—मकरम—के पास मकरनपुर जा, मिलकर लौटते और अपनी कोट में समा जाते हैं।" मथुरा पाण्डे का कहना था कि सैयद के सामने कोई भूत-बलाय नहीं ठहर सकती। सैयद के मुकाबले में वे महावीर जी को ही मानते थे। पर उनका कहना था, कि जब सैयद थूक देता है, तो उससे भ्रष्ट होने के डर से महावीर जी भी हट जाते हैं।

जो भी हो, आज सैयद नहीं रहे, जिन्होंने लखनदेव को परास्त किया था और दलसागर काण्ड रचा था। आज हिन्दू और मुसलमान, दोनों उनकी पूजा में होड़ करते हैं। बरम-बरमाइन भी पूजे जाते हैं, लेकिन उनके पूजक केवल हिन्दू हैं।



गोपी चपरासी

विष्णु प्रभाकर

एकाएक देखने में वह एक छोटा सा प्रभावहीन व्यक्ति था। न शरीर में ओज, न वाणी में प्रखरता। पर वास्तव में, स्थिति बिल्कुल विपरीत थी। गेहुंए वर्ण की नाटी छरहरी देह, पतला मुख, मिचमिची आंखें, बिल्ली की सी मूंछें और वैसी ही गतिविधि इस क्षण इधर ऊंघ रहा है, तो उस क्षण उधर दौड़ रहा है। वाचाल ऐसा कि नींद में भी क्रियाशील। घुटनों तक की धोती; सिर पर पतला सा मुडासा, जो अब खुला अब बंधा; बदन पर कुरता या कमीज; कन्धे पर गमछा, धोती या चादर—शोभा के लिए इतना नहीं, जितना घर जाते वक्त कुछ न कुछ ले जाने के लिए—और कुछ नहीं, तो घास,बुरादा या मिट्टी ही सही। हाथ में वह लकड़ी अवश्य रखता, क्योंकि उसे कुत्तों से डर लगता था। विशेष अवसरों पर सरकारी लम्बा कोट पहनता और पेटी भी बांधता, जिससे कुछ लम्बा लगने लगता।

वह जाति का गूजर था और इसी नाते छोटी-बड़ी अनेक चोरियों के सम्बन्ध में थाने में उसकी पेशी होती रहती, और जैसा कि सदा से होता आया है, वह पिटता भी; परन्तु तत्कालीन पंजाब की वह खूंख्वार पुलिस उसे एक बार भी अपने चंगुल में नहीं फंसा सकी—शायद प्रमाण के अभाव के कारण, शायद बड़े बाबू की दया के कारण. या फिर शायद जेब गर्म हो जाने के कारण। यूं उसने कई बार चोरी का इकबाल भी किया था, पर अपनी निराली अदा से। वह ट्रेड यूनियनों का

युग नहीं था, फिर भी चपरासी लोग मिल बैठते और तम्बाकू के धुएं के साथ-साथ अपने दुख-दर्द को उड़ाने की चेष्टा करते। ऐसी ही एक सभा में एक दिन उसके साथी ने कहा—"और रही चोरी की बात! किसी के घर डाका मारने कौन जावे है? यूं खेत में से घास-पात तुम भी लाओ ही हो।" गोपी तुरन्त अपनी ठेठ हरियानवी भाषा में बोला—"हां, लाऊं सूं। इसमें लुकाण की के बात सै और लाऊं कोना। दिके बाबू लोग रोज जेब भर के नांवा लावे सै। सच कहूं सूं। सच कहूं सूं, तनखा बाट्टण की बेरा अंगूठा पहलो ही लगवा लें और पैसे देण के वक्त किसी-किसी गरीब कू ऐसा दुत्कारे, ऐसा दुत्कारे कि बेचारा मुंह ने ताकता रह जा सै। इस सत्यानासी राज में कम अन्धेर ना सै, पर बेमाता ने अंग्रेज सरकार की तकदीर में न जाणे के लिख दिया सै, दिन दूणी रात चौगुणी तरक्की करे जा सै। गांधी बाबा की कुछ भी पार न बसावै।"

वह जीवन भर चपरासी रहा। बीसवीं सदी की दूसरी दशाब्दी में शायद तीन-चार रुपए माहवार पर वह नौकर हुआ था और जब उसे अवकाश दिया गया, तो मंहगाई भत्ता मिला कर लगभग बत्तीस-तैंतीस रुपये पाता था। लेकिन इसी आमदनी में उसने लड़की गोद ली और मुंह-छूट घी, बूरा खिला कर उसके हाथ पीले किए। उसके कोई औलाद नहीं थी। लोगों ने आपत्ति की—"दुनिया लड़का गोद लेती है, जिससे नाम चले; पर तुम नई चाल चल रहे हो।"

उसने जवाब दिया—"देखो जी! नाम चलता किसने देखा है! लड़के साले की निगाह माल पर रहे है कि कब बाप मरे और मैं मालिक बनूं।"

"और लड़की?"

"लड़की सदा यही मनाती रहे कि मेरा बाप जितनी देर बैठा रहे, उतना ही अच्छा है। कुछ न कुछ मिलता ही रहेगा।"

उसके तर्क सदा ही मौलिक होते थे। एक दिन वर्षा की ऋतु में मैं हवा-पानी का तार तैयार करने में लगा था कि उसने पूछा—"क्यों बाबूजी, कुछ बारिश का डौल है?"

मैंने कहा—"आज तो आंधी के आसार हैं।"

वह हँस पड़ा—"भगवान भी बड़े हँसोड़ हैं। पानी की चाहना है श्रौर श्रांधी भेज रहे हैं।"

फिर एक क्षण रुक कर कहा—"बाबूजी, हम करम ही ऐसे करे हैं। चोरी जारी··· श्रौर बाबूजी, श्रापने कुछ सुना ?"

"क्या ?"

"मंगला है न ? श्रपने दफ्तर में काम कर चुका है। पांच सौ रुपए में श्रपनी छोकरी बेच श्राया। ऐसे जुल्म होने लगे हैं। तब भगवान न्याय क्यों न करें······"

मैंने कहा—"लेकिन गोपी, सभी पापी थोड़े हैं ?"

गोपी बोला—"ना हों, गेहूं के साथ घुन तो पिस्से ही हैं।"

यही क्यों, एक बार ठेकेदार ने चना देने का ठेका दिया था। बड़ा ठेका था श्रौर उन दिनों श्रासानी से किसी की श्रांखों में धूल भी नहीं झोंकी जा सकती थी। स्वयं सबसे बड़ा श्रफसर माल की जांच-पड़ताल करता था। इसलिए जब ठेकेदार ने फार्म के श्रांगन में चने के ढेर लगवा दिए, तब कर्नल पूरे श्रमले के साथ निरीक्षण करने श्राया। कई क्षण वह घोड़े पर चढ़ा इधर-उधर घूमता रहा, फिर एकाएक बोल उठा—"हम यह माल नहीं लेगा।"

जैसे वज्रपात हुश्रा। बूढ़े ठेकेदार के काटो, तो खून नहीं। गिड़गिड़ाकर बोला—"हुजूर······"

"हम कुछ नहीं जानटा।" कहते-कहते वह घोड़े पर से उतरा श्रौर एक ढेर में से कुछ फलियां उठाकर बोला—"हमने चना मांगा ठा, यह कूड़ा नहीं ! यह क्या है ?"

निमिष-मात्र में सारा श्रांगन निस्तब्ध हो श्राया। श्रब माल के नामंजूर होने में कोई सन्देह नहीं। कर्नल उसी श्रावेश में उन फलियों को बूढ़े ठेकेदार की नाक के पास ले गया श्रौर कड़क कर बोला—"हम पूछटा, यह सब क्या है ?"

बूढ़ा ठेकेदार कांपने के श्रतिरिक्त श्रौर कुछ नहीं कर पा रहा था। कर्नल ने श्रपना प्रश्न फिर दोहराया। तभी सहसा गोपी बोल उठा—"हुजूर ! यह चने की मां है।"

एक साथ सबके नयन उसकी ओर उठ गए। कन्धे पर दुपट्टा डाले, हाथ में लकड़ी लिए, वह मुसकराता हुआ खड़ा था। कर्नल उसकी ओर देख रहा है, यह जानकर उसने बड़े अदब से कहा—"हुजूर, यह चने की मां है। इन्हीं के पेट से चने पैदा होते हैं।......"

आगे कुछ कहने की जरूरत नहीं पड़ी। कर्नल ठहाका मारकर हंस पड़ा, बोला—"ठीक-ठीक, तुम ठीक बोला।"

और, वह आगे बढ़ गया।

अक्षर ज्ञान से आदमी पढ़ा-लिखा माना जाता है, पर सहज ज्ञान से आदमी बुद्धिमान बनता है। गोपी की सहज बुद्धि अकसर पढ़े-लिखों को पछाड़ देती थी। वह हंसता भी खूब था, ऐसी खुरदरी हंसी कि पेंचकस की तरह चीरती चली जाए, पर क्या मजाल कि कोई रो सके। सन् 1931-32 के बाद दफ्तर में अकसर तूफान मचा रहता। काम बहुत, आदमी कम—सो, सब उत्तेजित। इस उत्तेजना में क्रमशः ऊपर वाला नीचे वाले को, नीचे वाला और नीचे वाले को अनायास ही पीसने को आतुर हो उठता। इन्हीं दिनों एक दिन बड़े बाबू तीव्र गति से साहब के पास से आए और गोपी से बोले—"......बढ़ई से कहो कि मुझसे मिले।"

गोपी ने पूछा --"कब मिले ?"

"मैं कहता हूं, मुझसे मिले। जरूरी काम है।"

"जी हां, मैं अभी जाता हूं, पर वह कब आए ?"

कई बार इस प्रश्न की पुनरावृत्ति होने पर बाबू चीख कर बोले—"कम्बख्त ! सुनता नहीं ? बारह बजे मिले ?"

गोपी लाठी उठा कर बाहर की ओर लपका ही था कि लौट पड़ा। घड़ी में तब चार बजे थे। उसने बड़े बाबू से पूछा—"जो, रात बारह बजे आने को कहूं न ?

यह सुनकर शून्यचित्त बड़े बाबू की क्षुब्धता यदि सीमा को पार कर जाती, तो स्वाभाविक ही था; पर ऐसा हुआ नहीं। उन्होंने जब आग्नेय नेत्रों से गोपी की ओर देखा, तो वह पूर्ण शांत-संयत खड़ा

था। न जाने क्या हुआ कि बड़े बाबू मुसकरा पड़े, बोले—"जा-जा, कल दिन में बारह बजे आने को कहना।"

कभी-कभी यह हँसी अनायास ही बड़ी निर्दय हो उठती। शायद पहले महायुद्ध के दौरान की बात है। बड़े बाबू की माता जी का देहान्त होने पर वह उनके फूल लेकर गंगा जी गया था। सब धार्मिक कृत्य हो जाने पर उसने एक भोजनालय खोज निकाला। उन दिनों चवन्नी खुराक का नियम था, लेकिन कुछ देर बाद ढाबेवाले ने पाया कि यह नया ग्राहक तो उस सीमा को कभी का पार कर चुका है। उसने हाथ खींचना शुरू किया—दाल मांगे तो ना, साग मांगे तो ना, चटनी मांगे तो ना। आखिर गोपी ने कहा—"रोटी तो है?"

ढाबेवाले ने कहा—'ठहरो अभी लाते हैं।"

इधर गोपी था कि पूर्ण शान्त—तनिक मैल नहीं, तनिक व्यग्रता नहीं? नमक के साथ ही पच्चीसवीं रोटी को उदरस्थ किया और कहा—"रोटी लाओ, भाई।"

अब तो ढाबेवाले के धीरज का बांध टूट गया। स्पष्ट शब्दों में उसने कहा—"अब रोटी नहीं मिलेगी!"

"क्यों भाई?"

"एक थाली में आठ से अधिक रोटियां नहीं होतीं।"

"लेकिन हमारी बात तो खुराक की तय हुई थी।"

ढाबेवाला उठ खड़ा हुआ—"कुछ भी हो, अब और नहीं दूंगा।"

गोपी बैठा रहा—"मैं भी खुराक पूरी करके उठूंगा।"

बात बढ़ी, भीड़ बढ़ी। एक सज्जन ने पूछा—'कहां के रहने वाले हो, भाई?"

गोपी ने अपनी ठेठ बोली में जवाब दिया—"हरियाणे का गुज्जर सूं।"

तब वह सज्जन ठहाका मारकर हँसे, ढाबेवाले से कहा—"पूछकर सौदा किया करो। हरियाने के लोग हमारी तरह पांच-छः फुलके नहीं खाते, खुराक खाते हैं। अब तक दुनिया को लूटता रहा है, आज लुट कर भी देख। चल, अब खिला अपने ताऊ को।"

वह काम कितना करता था, इसकी कल्पना भी आज कोई नहीं कर सकता। सवेरे आठ बजे दफ्तर पहुंचता, तो वहीं रात के आठ बज जाते। फिर बड़े बाबू के घर का काम, छोटे बाबुओं के खाने की व्यवस्था। "ओ गोपी ? गोपी, कहां गया रे ?" "ओ गोपी, दूध लाया?" "गोपी, यह ले जा।" "गोपी, वह ला।" "गोपी, खाना ले आया ?" "अरे गोपी, आज घर काम करूंगा। बस्ता ले जाना।........."

गोपी कभी पूरी बात न सुनता, लेकिन क्या मजाल कि कभी काम में चूक हो जाए। यूं मन में आता, तो बैठे-बैठे सो जाता, फिर भले ही तूफान उठे या भूकम्प आए, उसे चिन्ता नहीं। फिर एकाएक 'हरे राम, हरे राम' करता हुआ ऐसे उठता, जैसे बड़ी देर से काम कर रहा है। इतनी तेजी से कागज इधर-उधर करता कि फिर भूकम्प आ जाता। इसकी शिकायत, उसकी निन्दा, उस बाबू ने समय पर काम नहीं किया, उस ठेकेदार ने इस बार माल बहुत खराब दिया है और बाबू जी...बाबू जी परेशान, झुंझला रहे हैं; लेकिन गोपी है कि बोले चला जा रहा है, बोले चला जा रहा है।

एक दिन उसने क्या किया कि ठीक इस हाहाकार के समय बड़े बाबू का दूध उनके पास पहुंचा—"बाबू जी, दूध पी लो।"

बड़े बाबू भरे बैठे थे, चीख कर बोले—"कम्बख्त, यह काम करने का वक्त है, या पीने का ?........."

तुरन्त गोपी ने कहा—"बाबू जी ! आप दोपहर को खाना नहीं खाते। अब दूध भी नहीं पीते ! आखिर हाथ-पैर........."

"मैं कहता हूं, तुझे इन बातों से क्या मतलब ?"

"बाबू जी......"

"कम्बख्त ! शोर न मचा। ले जा इसे। नाली में डाल दे, या बिल्ली को पिला दे।"

गोपी बड़बड़ाता-झुंझलाता लौट गया। कुछ देर बाद दफ्तर में अपेक्षाकृत शान्ति हुई, तब बड़े बाबू को दूध की याद आई, पुकारा—"ओ कम्बख्त गोपी ! कुछ तो सोचा कर, सबेरे का भूखा हूं। दूध कहां है ?"

गोपी ने तुरन्त लकड़ी चादर संभाली और बाजार की तरफ लपका। हतप्रभ, क्रुद्ध बड़े बाबू बोले—"उधर कहां जाता है?"

"दूध लाने। यह आया दो मिनट में।"

"लेकिन वह दूध······?"

"जी, वह तो बिल्ली को पिला दिया। बेचारी भूखी थी।"

और, वह यह जा, वह जा। इधर बाबू जी यह उबले, वह उफने!

गोपी एक अद्भुत इनसान था। प्रसन्न हो, तो प्राण अर्पण कर दे—अप्रसन्न हो, तो जन्म-जन्म का शत्रु। कोई दो शब्द प्यार के बोल दे, दो पैसे की चीज हाथ पर धर दे—बस, गोपी उसी का। एक बार माता जी बीमार पड़ीं। दवा के लिए किसी छाल या बूटी की आवश्यकता थी। वह आसानी से प्राप्य नहीं थी। लेकिन गोपी ने, जब कहा, तभी लाकर दी। कष्ट की कभी चिन्ता नहीं की, कह देता था—"बिशनू की मां। तेरे लिए जान भी हाजिर है।"

उसकी जान न जाने किस-किस के लिए हाजिर रहती थी। वे आजकल के से दिन नहीं थे। छुट्टियों में भी बाबू लोगों को दफ्तर जाना होता था। कभी न जाते, तो बुलावा आ जाता। एक रविवार को मैंने भी निश्चय किया कि आज नहीं जाऊंगा, कहानी लिखूंगा।

लेकिन जैसे ही पहला अक्षर लिखा, गोपी ने आवाज दी—"बाबूजी!"

मैं क्रुद्ध कम्पित बोला—"क्या है?"

"साहब ने सलाम दी है।"

"पर आज तो रविवार है।"

वह हँस पड़ा—"बाबू जी, आप भी कैसी बात करते हैं। छुट्टी तो रजिस्टर में लिखने के लिए होती है। उठिए, साहब को अभी जाना है।"

मैंने तीव्र स्वर में कहा—"जाकर कह दो, मैं नहीं आऊंगा।"

तब तक वह आराम से चारपाई पर बैठ चुका था। मेरी बात अनसुनी करके उसने मेरी मां से कहा—"बिशनू की मां! लारी, एक रोटी।"

मां बोली—"एक क्यों, पेट भर खा।"

"बस एक, बिशनू की मां। पेट क्या रोटी से भरे है। वह तो, बाउली

प्यार की बात से भरे है। तू दो बोल मीठे बोल दे है, बस भरा रहू हूं।" और फिर, जल्दी-जल्दी रोटी खाकर वह उठा। मेरे पास आया—"बाबूजी, आराम करो, साहब से मैं निबट लूंगा।"

न जाने कितनी बार कितनों के साथ ऐसे अवसर आए, पर क्या मजाल, वह कभी चूका हो।

समाज के तथाकथित निचले स्तर का वह प्राणी निश्चय ही अनगढ़ और अनपढ़ था, पर उसका मस्तिष्क उर्वर था। उस उर्वरता का उपयोग वह शिव और शैतान दोनों की साधना के लिए करता था। वह किसी का होना जानता था, तो किसी को परेशान करना भी जानता था और करता था। वह अपना मूल्य चाहता था। वह मनुष्य जो था! पर ऐसा मनुष्य, जो सबसे पहले काम करने में विश्वास करता है। वह बोलता रहता, चलता रहता, पर काम उसका कभी न रुकता—सवेरे, शाम, तपती हुई दोपहर, रात के दो बजे का निविड़ अन्धकार, वर्षा, शीत, ग्रीष्म, कभी भी, बावजूद उसके बड़बड़ाने के, उस पर विश्वास किया जा सकता था। हड़तालों, प्रदर्शनों और अधिकारों के इस युग में आज न जाने क्यों, उस अनपढ़ अकिंचन प्राणी की याद करके मन भर-भर आता है। उसकी हँसी छाती में उफन-उफन उठती है। उसकी अनगढ़ मूर्ति आंखों में उभर-उभर आती है। वह चोर हो सकता है, उसे लालची भी कहा जा सकता है; फिर भी उसमें ऐसा कुछ था, जो मनुष्य को मनुष्य बनाता है। आज वही 'ऐसा कुछ' खो गया है—खोता जा रहा है।

●

बुझे दीप

विमला रैना

एक छोटी-सी दुनिया उसकी भी थी और वह बड़ा सुखी था अपनी उस दुनिया में। उसका नाम था—गोपाल। वह सुन्दर था, भावुक था और विनोदप्रिय था। लोग उसे भाग्यवान कहते थे। घर में मां थी, छोटा भाई था और जीवन में मुसकान लाने वाली राधा—उसकी पत्नी। अभी छोटे भाई प्राण का विवाह हुआ था। घर में छोटी-सी, सुन्दर सी, बहू आई। अम्मा अपनी सुन्दर सुशील बहुओं को देख निहाल हो जाती थी और गोपाल का जीवन एक मधुर संगीत भरी सरिता के समान इठलाता हुआ चल रहा था।

इधर जीवन सरिता बही जा रही थी, उधर काल खड़ा मुसकरा रहा था। एक दिन भयंकर तूफान आया और जीवन सरिता अनायास ही मरुभूमि बन गई। गोपाल की राधा मायके गई हुई थी। गोपाल कार्यवश उसे लिवाने न जा सका। उसने छोटे भाई प्राण को अपनी भाभी को लिवाने को भेज दिया। प्राण भाभी को लेकर मोटर से लौट रहा था। मोटर तेजी से चली आ रही थी कि अचानक एक भारी ट्रक से टकरा गई। दुर्भाग्यवश, मोटर में आग लग गई और काल के भीषण अट्टहास से दोनों की जीवन ज्योति बुझ गई।

गोपाल पर ऐसा आघात हुआ कि वह जीवित ही मर गया। अम्मा पर एक ही पल में दुख का पहाड़ टूट पड़ा। एक ही बार में काल ने उनके छोटे बेटे प्राण और बड़ी बहू राधा को उनसे छीन लिया।

अब घर में बड़ा बेटा गोपाल और छोटी बहू बीना, दो बुझे दीपक के समान रह गए। उनके घर में सहसा अंधेरा छा गया।

छोटी सी बीना ने एक विधवा का रूप धारण कर लिया। इस बीना के तार टूट गए थे। अब वह कभी झंकृत न होने वाले थे। उसका संगीत कहीं नीरवता की गोद में जाकर सो गया। उसकी आंखों की चमक आंसुओं से बह गई थी। उनमें भय का अंधेरा छा गया था। उसके अधरों की मुसकान सिकुड़कर केवल रुदन का कम्पन बन कर रह गई थी। उसका हृदय केवल गति का एक यन्त्र बन गया था—भाव-हीन, लक्ष्यहीन, अर्थहीन! अब उसका जीवन ही व्यर्थ और निरर्थक था—एक भारी बोझ, जिसके भार से वह खुद दबी जा रही थी और गोपाल को भी दबा रही थी। वह स्वयं मानो दुखद पीड़ा का साकार रूप हो, भाग्यहीनता का प्रतिविम्ब हो, शंका और भय की छाया हो। उसे देख, लोगों की मुसकान क्षीण पड़ जाती थी, हँसी कांप जाती थी, उल्लास मौन हो जाता था। बेचारी छोटी सी बीना एक अटूट दुखद रागिनी सी बन गई थी। वेदना, दुख और पीड़ा ही उसके स्वर, गति और लय थे। वह जहां जाती, यह रागिनी उसके पद से झंकृत होती। कभी-कभी वह अपने मन से पूछती—"क्या सती की प्रथा उसकी इस दशा से अधिक भयंकर थी?"

उस घटना को साल भर बीत चुका था। शोक थककर सो रहा था। पर सोई इन्द्रियां जागने लगी थीं। वे पुनर्जीवन पाने को मचल रही थीं। आंखें अंधकार को चीरकर बादलों में रंगीन लहरें देखना चाहती थीं। हृदय के यन्त्र में जान आ रही थी। इधर जान आ रही थी, उधर बीना घबरा रही थी— इतना घबरा रही थी कि वह चाहती थी, इस तरह जान आने से पहले वह खुद मर जाए। पर वह बेबस थी। यौवन उसे मरने न देता था। काल भी अपनी भेंट ले निश्चिन्त हो चुका था। वह अब निर्द्वन्द्व हो, बीना के अन्तर्द्वन्द्व का खेल देख रहा था। और, काल के साथ देख रहा था गोपाल। अपना दुख भूल, वह बीना की व्यथा में घुटा जा रहा था; क्योंकि वह बेबस था। बेबस

था, क्योंकि वह समाज का एक ग्रंश था ग्रौर समाज किसी का दुख निवारण करने में सदा बेवस ही रहा है।

मां से गोपाल का दुख देखा न जाता था। दुख उन्हें बीना के लिए भी था, पर उस दुख पर रो-पीट कर वे संतोष पा चुकी थीं। ग्रभागिन के भाग्य को कोई क्या करे ? ग्रब साल भर वीत चुका था। जिस बहू के भाग्य ने उनका बेटा उठा लिया हो, उस वहू से उन्हें विशेष सरोकार न था। विधाता ने उसे विधवा वना दिया। ग्रव कोई क्या कर सकता है ? पर उनका बेटा गोपाल ? ग्रभी उसकी ग्रायु ही क्या थी ? ग्रट्ठाईस वर्ष का सुन्दर युवक यों वैरागी वना फिरे, इसे वे सहन न कर सकती थीं। वे फिर से उसकी ग्रांखों में मुसकराहट देखना चाहती थीं— फिरसे उसका घर वसाना चाहती थीं, फिरसे इस बुझे दीपक में लौ लगाना चाहती थीं। वे तो चार महीने बाद से ही पुनर्विवाह की चर्चा करने लगी थीं, पर यह चर्चा चलते ही गोपाल उठ कर चला जाता था। ग्रव साल भर बीत चुका था ग्रौर ग्रव उनका धैर्य हताश हो रहा था। मां ग्रव उतावली हो रही थीं। शोक की भी एक सीमा होती है। ग्रपने छोटे वेटे के शोक को उन्होंने स्मृति के गाढ़तम ग्रतल में दवा दिया ग्रौर बड़ी बहू के सम्बन्ध में उन्होंने ज्ञान से काम लिया—वह तो रानी-सी गई। भगवान की देन थी, उसी ने ले लिया। ग्रपना क्या चारा है ? ग्रौर, बीना के तो करम ही फूटे थे। कर्म का भोग तो भोगना ही होता है। पर गोपाल ? गोपाल के ग्रागे तो दुनिया खड़ी है ! उसे कौन रोके है ? मां के विचार से, शायद बेटों का कर्म भोग नहीं होता। वह क्यों ग्रपना जीवन वर्वाद कर रहा है ? कम ग्रायु के सुन्दर विधुर के लिए संसार में किस वात की कमी थी ! छः महीने भी न वीते थे कि कितने ही घरों से मांगें ग्राने लगी थीं। मां ने लड़कियां देखनी भी शुरू कर दी थीं। दो-चार पसन्द भी ग्राई थीं, पर सब बेकार था। उन्होंने लाख कहा, लाख समझाया, कसमें दीं, रोई-पीटीं, झल्लाईं; पर गोपाल न मानता था। जैसे-जैसे ग्रम्मा शादी का हठ करती थीं, गोपाल का वैरागी रंग गाढ़ा पड़ता जाता था। ग्रब उसने दाढ़ी भी बढ़ा ली थी। बाल न कटवाता था। ग्रच्छे कपड़े बक्सों में

पड़े रो रहे थे। वह सादे कपड़ों में ही सन्तुष्ट रहता। वह किसी भी मनोरंजन में सम्मिलित न होता। लोग कहते—वह ऐसे रहता है, जैसे कोई विधवा हो। उसका हठयोगीपन उनकी समझ में न आता था। शायद वह विधवा और विधुर के अन्तर को न समझ पाया। लोग कहते थे, यह भी अजीव आदमी है। देखा तो यही गया है कि शोक शुरू में इनसान को राहु की भांति सम्पूर्ण रूप से ग्रस लेता है, पर समय के साथ उसी तरह घट भी जाता है, जैसे चन्द्र ग्रहण धीरे-धीरे हट जाता है। पर यहां तो मामला ही उल्टा था। ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते थे, गोपाल का शोक भयंकर होता जाता था। उसका जीवन केवल एक कार्यक्रम सा था, जिसके अनुसार रात बीत जाती, सुवह होती वह काम पर जाता। शाम होती—वह घर आता और फिर रात हो जाती। खाली समय में वह या तो कुछ पढ़ता रहता या खोई आंखों से एक ही ओर घंटों बैठ ऐसे देखता, जैसे उसके आगे एक अंधकार का परदा हो, जिसके पीछे कुछ ऐसा छिपा है, जिसे वह पा लेना चाहता है। उसके इस हठयोग में भजन-पूजन सम्मिलित न था। वह अपनी वेदना किसी से न कहता। जव कोई उसके पास आता, तो वह सभ्यता से बातें करता, उसका एक उदासीनता के साथ स्वागत भी करता। पर जब कभी कोई उससे पुनर्विवाह की बात करता, तो वह चुप हो जाता। और, जब वह चुप हो जाता, तो ऐसा लगता, जैसे उसके अन्तरतम की हजारों जबानें कुछ वोलने को मचल रही हैं और वह उनको वश में करने के लिए एक युद्ध लड़ रहा है। हाथों की मुट्ठियां बंध जातीं, आंखें लाल हो जातीं, दांत भिच जाते और वह अपने आपको समेटे बैठा रहता। उसके इस रौद्र रूप को देख, लोग घबरा जाते और बातों का विषय बदल कर घर चले जाते।

कभी-कभी बीना के आगे, अम्मा अपनी पड़ोसिन को गोपाल के विवाह की चर्चा करने को उकसातीं, तो गोपाल एक बार बीना की ओर देखकर कांप जाता और फटी आंखों से मा की ओर देख बड़ी जोर से हंसता। वह कर्कश हंसी प्रलय के समान भयंकर होती। उस हंसी के आगे मां की आंखें भर आतीं, पड़ोसिन का दिल दहल जाता

ग्रौर बीना का पीला मुख सफेद पड़ जाता। वह गोपाल की ग्रांखों का उन्माद देख कांप जाती ! एक हँसी में इतनी पीड़ा ! इतनी वेदना ! ! इतना उन्माद ! ! ! गोपाल तब बीना की दशा देख, ग्रपने को कुछ संभालता, फिर साधारणता लाते हुए बीना को सान्त्वना देने के खयाल से कोई ग्रौर बात छेड़ देता, फिर उठकर चला जाता।

दिन बीते चले जाते थे ग्रौर ग्रम्मा का पूजा-पाठ, मानता-प्रसाद, जादू-टोना, सब निष्फल होता जाता था। ग्रच्छी-ग्रच्छी लड़कियां दूसरों के घरों की शोभा बढ़ाने चली जा रही थीं ग्रौर ग्रम्मा यों ही हाथ फैलाए बैठी थी। ग्राज उन्होंने ग्राखिरी कोशिश करने की ठानी थी। वे यह जानती थीं कि गोपाल को बीना का ध्यान रहता है। उसको वह कभी निराश ग्रौर दुखी न करना चाहता था। वह बीना के ग्रागे ग्रधिकतर घर का वातावरण स्वाभाविक ही रखने की कोशिश करता था। उसके ग्रागे वह ग्रपना रौद्र रूप न लाता था। जो क्षणिक ग्रावेश में कभी कुछ उल्टी-सीधी कह भी रहा हो, तो बीना को देख चुप हो जाता था। बीना के ग्रागे वह हठयोगी कुछ इनसान सा बन जाता था।

तो, ग्राज ग्रम्मा ने छोटी बहू बीना को गोपाल से विवाह के लिए हठ करने को कहा। वह उसकी बात न टालेगा। ग्रम्मा ने दिन भर बीना को सिखाया, वचन लेने का ग्रस्त्र उसे बताया ग्रौर जब तक गोपाल वचन न दे, बीना को तर्क ग्रौर हठ करने की सीख दी। उन्होंने बीना को ग्रच्छी तरह समझा दिया कि जब तक गोपाल का पुनर्विवाह न होगा, घर में सुख ग्रौर शान्ति न होगी। बीना ने गोपाल के ग्रागे कभी खुल कर बात न की थी। वह जेठ का नाता रखता था। सुहागिन बीना उससे लजाती थी। उसका ससुर-समान ग्रादर करती थी। पर वैधव्य की बीना उससे डरती थी, बहुत डरती थी। ग्रौर ग्राज, ग्रम्मा उससे गोपाल से ग्राग्रह करने को कह रही थीं। उसे ग्राग्रह करना ही होगा। उसके इस ग्राग्रह का क्या मूल्य होगा, यह वह न जानती थी, पर तब भी उसे यह ग्राग्रह करना ही था—इसलिए करना था कि ग्रम्मा ने कहा था, इसलिए करना था कि कहीं लोग यह न समझें कि वह नहीं चाहती कि गोपाल का पुनर्विवाह हो।

अम्मा ने गोपाल के परम मित्र कैलाश को भी बुलाया था—शायद इसलिए, कि कैलाश वीना के तर्क और हठ को और भी महत्व दे सके।

आज शाम को गोपाल काम से लौटने पर आरामकुर्सी पर हाथों से आंखें मूंदे हुए बैठा था। वीना चाय की ट्रे लेकर आई। सदा वीना ही चाय लाया करती थी। घर में नौकरों की कमी न थी, पर वह यह काम खुद ही करती थी। शायद इस सेवा में वह अज्ञात रूप से गोपाल को उसकी अव्यक्त सहानुभूति के लिए धन्यवाद सा देती हो, अथवा अस्पष्ट रूप में वह गोपाल को अपनी संवेदना दिखाना चाहती हो; तो, वीना आज भी हमेशा की तरह चाय लेकर आई, पर आज उसके हाथ कांप रहे थे। ट्रे के वर्तन खनखना रहे थे, पर गोपाल की विचार-धारा कुछ ऐसी गहन गंभीर थी कि वह वैसे ही बैठा रहा। वीना ने कहा - "भइया!" उसका स्वर कांप रहा था। गोपाल ने आंखें खोलीं। वीना का स्वर पहचानते ही वह स्वाभाविकता से बोला—"चाय लाई हो, वीना?" जवाब में वीना ने ट्रे के वर्तन खनखना दिए। गोपाल ने मुड़ कर देखा। उसके हाथ से ट्रे ले ली और फिर बैठ गया। वीना को देख, उसे न जाने क्या हो जाता था। वह बहुत कुछ कहना चाहता था, पर कुछ न कह पाता था, न कुछ कर ही पाता था। उसे सब व्यर्थ सा लगता था। व्यर्थ की ढोंगी-पोली सहानुभूति, सब व्यर्थ! जब वह वीना के वृद्ध यौवन को देखता, जब वह उसके जीवित शरीर और मृत आत्मा को देखता, जब वह उसकी आंखों के बुझे दीपों को देखता, तो उसे लगता, जैसे हजारों शक्तियां उसे पुकार रही हैं कि वह कुछ करे—कुछ करे, जिस से वीना की, जिससे वैधव्य की यह कुरूपता बदल जाए। पर वह अकर्मण्य खड़ा रहता। उसके कानों में 'कायर, निकम्मा, ढोंगी, स्वार्थी, निर्लज्ज, पशु पाषाण' की ध्वनियां उठतीं—जैसे उसकी समस्त शक्तियां उसे धिक्कार रही हों। पर वह कुछ कर न पाता, कुछ कह न पाता और बेबस सा मौन हो अपनी आंखें मूंद लेता—जैसे उसकी आंखें बंद हो जाने से वीना का वैधव्य ही हट जाता हो।

और दिन वीना चाय देकर चली जाती थी। पर आज वह खड़ी रही। आंखें बंद होने पर भी गोपाल को यह मालूम था कि वीना खड़ी

है और वह सोच रहा था कि बीना क्यों खड़ी है, वह क्या कर सकता है उसके लिए ? तभी फिर एक डरी हुई आवाज आई—"भइया !"

गोपाल सहम कर चौंक गया। आज बीना कुछ कहना चाहती थी। कैसे सुनेगा वह ? क्या करेगा वह ? पर बीना अब भी खड़ी थी। वह भी खड़ा हो गया। उसने देखा, बीना घबरा रही है।

"क्या है बीना ?"—उसने हताश स्वर में पूछा।

"मेरी एक बात मानेंगे आप ?"

गोपाल ने सुना। वह घबरा रहा था। जो कभी कुछ न बोली हो, वह आज एक बात कहेगी। वह 'न' कैसे कह सकता था। "हां······ हां··· बैठो।" उसने मुसकराने की कोशिश करते हुए कहा।

"पहले मुझे वचन दीजिए।"—बीना ने लड़खड़ाते स्वर में कहा।

"वचन देता हूं।" वचन देते समय गोपाल को कोई शंका न हुई।

"आप अम्मा का कहना क्यों नहीं मानते ? आप शादी कर लीजिए।" बीना ने भीख सी मांगी। गोपाल सिर से पैर तक कांप गया। उसका सारा शरीर बुरी तरह झनझना रहा था।

"यह 'तुम' कह रही हो बीना ?······यह अम्मा ने 'तुम' से कहलवाया है ? और कोई न मिला उन्हें ?"—गोपाल तड़प गया और अपने हाथों से अपना मुंह ढांक कर बैठ गया।

"हां, मैं कह रही हूं। क्या मैं आपकी कोई नहीं हूं ? क्या अब मैं कुछ कह भी नहीं सकती ? आप शादी नहीं करते, आप हँसते नहीं, बोलते नहीं—आप कुछ भी तो नहीं करते। ये कपड़े, ये दाढ़ी, ये बाल !"—वह आगे न कह सकी, गला रुंध रहा था उसका।

"मैं हँसता नहीं, बोलता नहीं, कुछ भी तो नहीं करता···! ह ह ह ह ह ! ये मेरे कपड़े, ये दाढ़ी, ये बाल···और तुम ? तुम बीना ?"—गोपाल की चेतना को न जाने कहां से साहस आ गया। पर बीना सिहर गई।

"मैं ?······मैं ?······क्या कह रहे हैं आप ?"—बीना एक डरी हिरनी सी आंखें फाड़े गोपाल की ओर देख रही थी।

"मैं क्या कह रहा हूं ? हां···· मैं क्या कह रहा हूं। हूं ! हः हः हः !! हा हा हा हा !!!" गोपाल उन्माद का ठहाका मार

कर हँसा। बीना से गोपाल का यह हँसता रुदन न देखा गया। वह डरी हुई सी पीछे हटने लगी। उसने अपनी आंखें मूंद लीं। कानों पर हाथ रख लिए। फिर वह घबरा कर रो दी। गोपाल ने देखा, देख कर अपने को धिक्कारा।

"बीना! बीना! सुनो!" वह सस्नेह बोला। बीना ने सिसकी भरते हुए उसकी ओर डरी आंखों से देखा। उसकी आंखें उस समय उस कुत्ते की आंखों के समान थीं, जो मालिक से अकारण ही झिड़की खाने के बाद फिर प्यार से बुलाया गया हो। उन आंखों में सन्देह, विश्वास, स्नेह और भय का विचित्र मिश्रण था। गोपाल को अपने ऊपर क्रोध आ रहा था - मन में उन आंखों को देख अति ग्लानि थी। "सुनो!" —वह शान्त होते हुए बोला—"तुमने मुझसे वचन लिया है न?...बोलो।"

"हां!"—बीना ने सांस रोककर कहा। "तो जो तुम कहोगी, मैं करूंगा। जाओ, अम्मा से कह दो, तुमने अपना काम कर दिया।" यह कह, गोपाल फिर आंखें बंद कर कुर्सी पर बैठ गया। वह थक गया था, हार गया था, अम्मा की जीत हुई थी। पर आज वह बोल सका था, उसने बीना से कहा था—"और तुम बीना?" अब वह चुप न रहेगा। वह फिर गहरे सोच में पड़ गया। पर इस सोच में निराशा न थी।

उधर अम्मा कैलाश को लिए दरवाजे के पीछे खड़ी सब सुन रही थीं। गोपाल के वचन देने पर उन्होंने सन्तोष की सांस ली और कुछ देर बाद कैलाश को गोपाल के निश्चय को दृढ़ करने को भेजा। कैलाश भी एक अभिनय सा करता हुआ कमरे में आते ही बोला—"भाई, वाह! यह क्या हो रहा है? खैर, शुक्र है, जोश तो आया! अम्मा से अभी मुझे मालूम हुआ कि हमारे वैरागी साहब अब रास्ते पर आ रहे हैं। चलो, आज की खुशी में तुम्हारी यह दाढ़ी साफ़ कर दी जाए।"

गोपाल निश्चल बैठ रहा। कैलाश कुछ समझता, कुछ न समझता सा पास ही बैठ गया। अभिनय का पहला हिस्सा खत्म हो गया था और आगे उसकी समझ में न आ रहा था कि वह क्या कहे! उसको गोपाल की आंखों में अब भी वही हठ दीख रहा था। उसके भावावेश में कोई अन्तर न था। कैलाश कुछ उलझ कर बोला—"ऐसी भी क्या

बात है, गोपाल ? तुम तो ऐसे बन रहे हो, जैसे कि यह सब दुनिया में होता ही नहीं। अभी कुछ ही साल की तो बात है, जब तुमने रमेश को खुद समझा-बुझा कर उसकी दूसरी शादी करवाई थी। तुम दोस्त के नाते उसके ब्याह में गए भी थे। तब तो तुम बड़े फिलासफर बना करते थे.........तुम्हीं ने तो कहा था कि भूत को वर्तमान और भविष्य पर हावी नहीं होने देना चाहिए।......तुम्हीं तो कहा करते थे कि निराशावादी नहीं, आशावादी हूं। तुम्हारा ही कहना था कि इन्सान को हर परिस्थिति में सुख को फिर से गढ़ना होता है। इनसान कलाकार है और यह उसकी सबसे बड़ी कला है। अब क्या हो गया है तुम्हें ? इस दुनिया को छोड़ कर जो चला जाता है, उसको प्रियजनों के दुख से कभी सुख नहीं मिल सकता ! बोलो, कहो, क्या यह सब तुम नहीं कहते थे ?"

गोपाल ने एक ठंडी सांस ली, फिर कहा—"हां, मैं ही यह सब कहता था——......और अब भी कहता हूं।"

"तो फिर यह वैरागी होने का ढोंग क्या रचा है तुमने ? क्यों मां को इतने दिनों से तड़पा रहे हो ? क्यों अपना जीवन नष्ट कर रहे हो ?—कैलाश ने आवेश में कहा।

गोपाल सोच रहा था। अपना साहस बटोर रहा था; बोला—"कैलाश, तुम मुझे गलत समझ रहे हो। यह ढोंग मैंने इसलिए नहीं रचा कि मैं दुनिया को यह दिखाना चाहता हूं कि मैं एक आदर्श पति हूं। मेरे विचार अब भी वही हैं, जो पहले थे। मैं मौत और जिन्दगी को सम्मिलित नहीं करता। प्रेतात्मा और जीवित आत्मा का नाता कैसा ? इस दुनिया में रह कर उस दुनिया से सम्बन्ध कैसा ? पर...पर मैं कायर हूं। मैं बुजदिल हूं, कैलाश !......आज अम्मा ने बेचारी बीना को मेरे पास शादी का वचन लेने को भेजा था। 'बीना' को ! बेचारी बीना को मुझे समझाने भेजा था कि जीवन में तो रंगीनियों से यों मुंह नहीं मोड़ा जाता। यह भी कहलवाया कि हँसना, बोलना, खेलना, घूमना, कपड़े पहनना, शृंगार करना ही जीना है। और, यह सब रूखे बाल और सूने ललाट-वाली बीना मुझे समझाने को भेजी गई थी, जिसे मैं अभी दो साल

हुए, ब्याह कर लाया था, जो मेरी छोटी बहन के समान है, जिसे ईश्वर ने नहीं, समाज ने आजन्म फांसी पर लटके रहने का दण्ड दिया है। वह मुझसे कह रही थी कि मैं अपने जीवन में रस भर लूं, संगीत भर लूं और रंग भर रंगरलियां मनाऊं! मैं वचन दूं कि काल से हार नहीं मानता! कैलाश! एक खण्डहर कह रहा था कि मैं एक विशाल महल बनूं। उफ! अम्मा को कोई और न मिला था?"

"फिर तुमने उससे क्या कहा, गोपाल?"—कैलाश ने पूछा।

"मैं उस बेचारी की पहली मांग पर 'न' कैसे कहता? मैंने वचन दे दिया। अम्मा ने उसे मेरे पास भेजा था। अब मैं भी तुम्हें उनके पास भेजना चाहता हूं। तुम्हें इसलिए भेज रहा हूं कि मैं कायर हूं। उनका बेटा होने के नाते मेरी जबान खुल न पाएगी। मैंने कुछ दिन हुए, उनसे एक बार बीना के इस नीरस जीवन के बारे में बातें की थीं। उसकी इस वेश-भूषा को बदलने को कहा था। जानते हो, उन्होंने मुझसे क्या कहा?"

"क्या?"—कैलाश ने डरते-डरते पूछा।

गोपाल बोला—"मां कहने लगीं—मुझे क्या? कह दो जाकर, मुंह काला कर ले!—कैलाश! वे ऐसे बोलीं, जैसे किसी भेड़-बकरी की बात कर रही हों। मैं बुजदिल की तरह वहां से भाग आया। पर अब मैं चुप न रहूंगा। मैं पागल हो रहा हूं। तुम उनसे पूछो, कैलाश, उन के छोटे बेटे की मृत्यु हो गई। वे मां हैं और मां की ममता से बढ़ कर, कहते हैं, कोई ममता नहीं। फिर भी उस दुख को सहन कर वे फिर से सुख की दुनिया में रहना चाहती हैं। मैं उसका बड़ा भाई था। बहुत प्यार करता था मैं उसे। पच्चीस साल का नाता था मेरा-उसका—फिर भी, मैं अपनी दूसरी शादी कर उसे भूल जाऊंगा। अपनी राधा, अपनी पत्नी को भूल जाऊंगा, नई बहू लाऊंगा—और केवल मां के कहने से नहीं, जिन्दगी के कहने से! शोक की एक सीमा होती है।... अम्मा की दुनिया न बदली। मेरी दुनिया में फिर बसंत आएगा। पर साल-दो साल की ब्याही पराई लड़की से हम चाहते हैं कि वह आजन्म उस परदेशी की स्मृति में धूनी रमा सदा के लिए संन्यासिन हो जाए। वह अपना दुख एक त्योहार की तरह मनाए। उनसे पूछो, कैलाश,

दुख भी क्या मनाने की चीज है ? दुख कोई त्योहार नहीं, जो मनाया जाए। ओह ! मैं यह सब नहीं देख सकता, कैलाश, नहीं देख सकता !" गोपाल फिर उन्मादित हो अपने बाल नोंचने लगा।

"शांत हो, गोपाल ! भाग्य के आगे इनसान हारा है।"—कैलाश ने गोपाल को समझाते हुए कहा।

"चुप रहो ! तुम भी अम्मा के सिखाए भेजे गए हो। भाग्य ! फूटे कर्म ! भाग्य और फूटे कर्म, हम दोनों एक थे। यह भगवान का न्याय था। वह दण्ड दे चुका था। मुझसे मेरी राधा और बीना से उसका प्राण छीन लिया उसने। यह ईश्वर का दण्ड था। पा लिया हमने। पर अब समाज देवता का न्याय कैसा है ? मैं फिर से ब्याह कर लूं और बीना बेचारी ठीक से कपड़े भी न पहने। मैं फिर से जीवन पाऊं और बीना जीवित ही मर जाए ? यही है न तुम्हारे समाज देवता का न्याय ? ईश्वर समदर्शी है। वह हम सबको एक सा दण्ड, एक सा फल देता है। पर समाज देवता ईश्वरीय न्याय के बाद भी दण्ड देते हैं। हां, फर्क सिर्फ इतना है कि उनका न्याय केवल सुन्दर कोमल अबलाओं को ही यह भीषण दण्ड देने का है। मैं बेटा हूं, वह बहू। हम दोनों पर शायद भगवान ने एक साथ एक सा दुख केवल इसीलिए दिया हो कि बेटे का दुख देख अम्मा को बहू की भी संवेदना हो। पर नहीं हुई। नहीं हुई, कैलाश ! वे केवल मुझको ही देखती रहीं। मेरे कपड़े, मेरे बाल, हुंह ! मर्द तो शृंगार के लिए बने ही नहीं। पर लड़की तो होश आते ही शृंगार की दुनिया में पलती और बड़ी होती है। वह संन्यास ले ले और मैं अपने जीवन का शृंगार करूं ? मैं बीना को वचन दे चुका हूं। मैं अपना वचन वापस नहीं मांगता। पर जब तक बीना सुखी न होगी, मैं शादी नहीं करूंगा।"

"विधवा विवाह कोई जुर्म तो नहीं है, गोपाल !"—कैलाश ने कुछ झिझकते हुए कहा।

"विवाह ! विधवा विवाह ! क्या विवाह ! क्या विवाह ही सब कुछ है, कैलाश? क्या तुम चाहते हो कि एक नारी केवल स्वाभाविक जीवन बिताने के लिए दूसरा विवाह कर ले ? क्या बिना विवाह किए उसे जीने

का कोई अधिकार नहीं ? कितना शौक था वीना को साड़ियों का, फूलों का, गहनों का ! आह ! मुझे याद है वह दिन, जब चूड़ी वाली की आवाज सुन वह ऐसी भागी थी कि ठोकर खा गिर पड़ी थी । अब सिर्फ कुछ गहने-कपड़े पहन सकने के लिए उसे ब्याह की भीख मांगनी होगी ?……शादी-ब्याह उसके अपने मन की निजी बात है । सुख के लिए वह अनिवार्य नहीं । पर मैं कहता हूं, कैलाश ! मैं उसे ऐसे न रखूंगा । अम्मा से कह दो कि यदि वे मुझे सुखी देखना चाहती हैं, तो वीना को फिर से घर की लड़की का स्थान दे ।………उसे इस जीवन में जीने दें । मैं ब्याह को नहीं कहता । मगर मैं उसके लिए सिर्फ जिन्दगी मांगता हूं—वही जिन्दगी, जो एक दिन ब्याही लड़की की होती है । उसे पुनर्विवाह की नहीं, पुनर्जीवन की आशा दें, उसे हंसने की आशा दें, उसकी आती-जाती सांसों को मौत की नहीं, जिन्दगी की आशा दें । नहीं तो…नहीं तो……मैं पागल हो जाऊंगा…मैं…"
अचानक वह चौंका—"……वह कैसी आवाज थी, क्या हुआ ?"

"तुम ठहरो गोपाल, मैं देखकर आता हूं ।" कैलाश ने आगे बढ़कर दरवाजा खोला । वीना नीचे अचेत पड़ी थी ।

"वीना गिर पड़ी ! चक्कर आ गया हो शायद । थोड़ा पानी लाना, गोपाल !"

गोपाल पाषाण-मूर्ति-सा खड़ा था ।

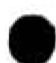
"खड़े देख क्या रहे हो ? बेहोश हो गई है । पानी दो जल्दी !"
—कैलाश ने गुस्से में कहा ।

"बेहोश हो गई है ? ओह ! कितने दिनों बाद बेहोश हुई है आज ! पानी ? पानी क्या करोगे, कैलाश ? तुम उसे होश में लाना चाहते हो ? क्यों ? मैं पूछता हूं, क्यों ? उसे होश में लाकर तुम उसे क्या दोगे ?

गोपाल बक रहा था । कैलाश पानी की सुराही की तरफ लपका ।

"खबरदार ! जो कोई उसे होश में लाया । वह अब सुखी है, कम से कम कोई दुख नहीं उसे । बधाई दो, कैलाश ! बधाई दो ! अम्मा से कह दो, शहनाई बजवाएं । उनकी बहू बेहोश है, बेटा शादी

करने जा रहा है। विवाह रचाओ। जल्दी करो। उसे होश न आने पाए। इस समय वह दुखी नहीं। हः हः हः हः ! बुझे दीप जलाओ, कैलाश ! बुझे दीप जलाओ !"



मेंढ़की का ब्याह

वृन्दावनलाल वर्मा

उन जिलों में त्राहि-त्राहि मच रही थी। आषाढ़ चला गया, सावन निकलने को हुआ, परन्तु पानी की बूंद नहीं। आकाश में बादल कभी-कभी छिटपुट होकर इधर-उधर बह जाते। आशा थी कि पानी बरसेगा, क्योंकि गांववालों ने कुछ पत्रों में पढ़ा था कि कलकत्ता-मद्रास की तरफ जोर की वर्षा हुई है। लगते आसाढ़ थोड़ा सा बरसा भी था। आगे भी बरसेगा, इसी आशा में अनाज बो दिया गया था। अनाज जम निकला, फिर हरियाकर सूखने लगा। यदि चार-छः दिन और न बरसा, तो सब समाप्त। यह आशंका उन जिलों के गांवों में घर करने लगी थी। लोग व्याकुल थे।

गांवों में सयानों की कमी न थी। टोने टोटके, धूप-दीप, सभी-कुछ किया, लेकिन कुछ न हुआ। एक गांव का पुराना चतुर नावता बड़ी सूझ-बूझ का था। अथाई पर उसने बैठक करवाई। कहां क्या किया गया है, थोड़ी देर इस पर चर्चा चली। नावते ने अवसर पाकर कहा—"इन्द्र वर्षा के देवता हैं—उन्हें प्रसन्न करना पड़ेगा।"

"सभी तरह के उपाय कर लिए गए हैं। कोई गांव ऐसा नहीं हैं, जहां कुछ न कुछ न किया गया हो। पर अभी तक हुआ कुछ भी नहीं है।"—बहुत-से लोगों ने तरह-तरह से कहा और उन गांवों के नाम लिए : होम-हवन, सत्यनारायण कथा, बकरों-मुर्गों का बलिदान, इत्यादि किसी-किसी ने फिर सुझाए; परन्तु नावते की एक नई सूझ

अन्त में सबको माननी पड़ी। नावते ने कहा—"बरसात में ही मेंढ़क क्यों इतना बोलते हैं ? क्यों इतने बढ़ जाते हैं ? कभी किसी ने सोचा ? इन्द्र वर्षा के देवता हैं, सब जानते हैं। पानी की झड़ी के साथ मेंढ़क बरसते हैं, सो क्यों ? कोई किरानी कह देगा कि मेंढ़क नहीं बरसते। बिलकुल गलत। मैंने खुद बरसते देखा है। बड़ी नांद या किसी बड़े बर्तन को बरसात में खुली जगह रख के देख लो। सांझ के समय रख दो, सवेरे बर्तन में छोटे-छोटे मेंढ़क मिल जाएंगे। बात यह है कि इन्द्र देवता को मेंढ़क बहुत प्यारे हैं। वे जो रट लगाते हैं, तो इन्द्र का जय-जयकार करते हैं।"

अथाई पर बैठे लोग मुंह ताक रहे थे कि नावते जी अन्त में क्या कहते हैं।

नावता अन्त में बहुत आश्वासन के साथ बोला "मेंढ़क-मेंढ़की का ब्याह करा दो। पानी न बरसे, तो मेरी नाक काट डालना।" मेंढ़क-मेंढ़की का ब्याह ! कुछ के ओठों पर हँसी झलकने को हुई, परन्तु अनुभवी नावते की गम्भीर शक्ल देखकर हँसी उभर न पाई।

एक ने पूछा—"कैसे क्या होगा उसमें ? मेंढ़की के ब्याह की विधि तो बतलाओ, दादा।"

नावते ने विधि बतलाई—"वैसे ही करो मेंढ़क-मेंढ़की का ब्याह, जैसे अपने यहां लड़के-लड़की का होता है। सगाई, फलदान, सगुन, तिलक, आतिशबाजी, भांवर, ज्योनार, सब धूम-धाम के साथ हो, तभी इन्द्रदेव प्रसन्न होंगे।" लोगों ने आकाश की ओर देखा। तारे टिमटिमा रहे थे। बादल का धब्बा भी वहां न था। पानी न बरसा तो मर मिटेंगे। ढोरों-बैलों का क्या होगा ? बढ़ी हुई निराशा ने उन सबको भयभीत कर दिया।

लोगों ने नावते की बात स्वीकार कर ली। चन्दा किया गया। आस-पास के गांवों में भी सूचना भेजी गई। कुतूहल उमगा और भय ने भी अपना काम किया। यदि नावते के सुझाव को ठुकरा दिया, तो सम्भव है, इन्द्रदेव और भी नाराज हो जाएं ? फिर ? फिर क्या होगा ? चौपट ! सब तरफ बंटाढार !

आस-पास के गांवों ने भी मान लिया। काफी चन्दा थोड़े ही समय में हो गया।

नावते ने एक जोड़ी मेंढ़क भी कहीं से पकड़ कर रख लिए। एक मेंढ़क था, एक मेंढ़की। ब्राह्मणों की कमी नहीं थी। ब्याह की धूम-धाम का मजा और ऊपर से दान-दक्षिणा।

गांव के दो भले आदमी मेंढ़क-मेंढ़की के पिता भी बन गए। मुहूर्त शोधा गया— जल्दी का मुहूर्त!

बाजे-गाजे के साथ फलदान, सगुन की रस्में अदा की गईं। दोनों के घर दावत-पंगत हुई। मेंढ़क-मेंढ़की नावते के ही पास थे। वही उन्हें खिला-पिला रहा था। अन्यत्र हटा कर उनके मरने-जीने की जोखिम कौन ले?

तिलक-भांवर का भी दिन आया। पानी के एक बर्तन में मेंढ़की उस घर में रख दी गई, जिसके स्वामी को कन्यादान करना था। उसने सोचा—"हो सकता है, पानी बरस पड़े। कन्यादान का पुण्य तो मिलेगा ही।"

मेंढ़क दूल्हा पालकी में बिठलाया गया। रखा गया बांध कर। उछल कर कहीं चल देता, तो सारा कार-बार ठप हो जाता। आतिशबाजी भी फूंकी गई, और बड़े पैमाने पर। एक तो, आतिशबाजी के बिना ब्याह क्या? दूसरे, अगर पिछले साल किसी ने आतिशबाजी पर एक रुपया फूंका था, तो इस साल कम से कम सवा का धुआं तो उड़ाना ही चाहिए।

तिलक हुआ। जैसे ही मेंढ़क के माथे पर चन्दन लगाने के लिए ब्राह्मण ने हाथ बढ़ाया कि मेंढ़क उछला। ब्राह्मण डर के मारे पीछे हट गया। खैरियत हुई कि मेंढ़क एक पक्के डोरे से बर्तन में बंधा था, नहीं तो उसकी पकड़-धकड़ में मुहूर्त चूक जाता। कुछ लोग मेंढ़क की उछल-कूद पर हँस पड़े। कुछ ने ब्राह्मण को फटकारा—"डरते हो? दक्षिणा मिलेगी, पण्डित जी! करो तिलक।"

पण्डित जी ने साहस बटोरकर मेंढ़क के ऊपर चन्दन छिड़क दिया। फिर पड़ी भांवर।

एक पट्टे पर मेंढ़क बांधा गया, दूसरे पर मेंढ़की। दोनों ने टर्र-टर्र शुरू की।

नावता बोला—"ये एक-दूसरे से ब्याह करने की चर्चा कर रहे हैं।"

ब्राह्मणों ने भांवरें पढ़ीं और पढ़वाईं। फिर दावत-पंगत हुई। मेंढ़की की विदाई हुई। मेंढ़क के 'पिता जी' को दहेज भी मिला। मनुष्यों के विवाह में दहेज दिया जाए, तो मेंढ़क-मेंढ़की के विवाह में ही क्यों हाथ सिकोड़ा जाए ? पानी बरसे या न बरसे, मेंढ़क के पिता जी बहरहाल कुछ से कुछ तो हो ही गए। नावता दादा की अंटी में भी रकम पहुंची और इन्द्रदेव ने भी कृपा की।

बादल आए, छाए और गड़गड़ाए ; फिर बरसा मूसलाधार। लोग हर्ष मग्न हो गए। नावते की धाक बैठ गई; कहता फिर रहा था—"मेरी बात खाली तो नहीं गई ! इन्द्रदेव प्रसन्न हो गए न।"

पानी बरसा और इतना बरसा कि रुकने का नाम न ले रहा था। नाले चढ़े, नदियों में बाढ़ें आईं। पोखरे और तालाब उमड़ उठे। कुछ तालाबों के बांध टूट गए। खेतों में पानी भर गया। सड़कें कट गईं। गांवों में पानी तरंगें लेने लगा। जनता और उसके ढोर डूबने-उतराने लगे। बहुत से तो मर भी गए। सम्पत्ति की भारी हानि हो गई। आठ-दस दिन के भीतर ही भीषण बर्बादी हुई। इन्द्रदेव के बहुत हाथ-पैर जोड़े। वह न माने, न माने। लोग कह रहे थे कि इससे तो वह सूखा ही अच्छा था।

फिर नावते की शरण पकड़ी गई अब क्या हो ?

उसका नुस्खा तैयार था। बोला—"कोई बात नहीं। सरकार ने तलाक-कानून पास कर दिया है। मेंढ़क-मेंढ़की की तलाक कराए देता हूं। पानी बन्द हो जाएगा।"

"पर मेंढ़कों का वह जोड़ा कहां मिलेगा ?"—लोगों ने प्रश्न किया।

नावते का उत्तर उसकी जेब में ही था। उसने चट से कहा—"मेरे पास है।"

"कहां से आया ? कैसे"—प्रश्न हुआ।

उत्तर था—"मेंढ़क के पिता के घर से दोनों को ले आया था। जानता था कि शायद अटक न जाए।"

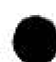
पानी बरसते में ही तलाक की कार्रवाई जल्दी-जल्दी की गई। तलाक की क्रिया के निभाने में न तो अधिक समय लगना था और न कुछ वैसा खर्च।

मेंढ़क-मेंढ़की दोनों छोड़ दिए गए। दोनों उछल कर इधर-उधर हो गए।

परन्तु पानी का बरसना बन्द न हुआ। बाढ़ पर बाढ़ और जनता के कष्टों का वारापार नहीं।

गांव छोड़-छोड़कर लोग इधर-उधर भाग रहे थे। एक-दो के मन में आया कि नावता मिल जाए, तो उसका सिर फोड़ डालें।

परन्तु नावता कहीं नौ-दो-ग्यारह हो गया।



हृदय परिवर्तन

शान्तिप्रिय द्विवेदी

बर्बर पशुओं से आक्रान्त, श्रावस्ती के वन-प्रान्तर में एक नरपशु भी रहता था। उस विकराल व्याघ्र का नाम अंगुलिमाल था। वह मनुष्यों को मारकर अंगुलियों की माला पहनता था। उसके आतंक से पीड़ित होकर त्रस्त प्रजा ने राजा प्रसेनजित से निवेदन किया—"देव ! उस दुर्दान्त दस्यु से हम लोगों की रक्षा कीजिए।"

राजा प्रसेनजित ने उसके दमन के लिए बहुत उपाय किए, किन्तु सब निष्फल गए। सैनिक शक्ति के रहते हुए भी प्रसेनजित दस्युजित नहीं हो सका।

अंगुलिमाल जन्म से ही दुर्दान्त दस्यु नहीं था। कभी वह नरपशु भी मनुज शिशु था। कोशलराज के पुरोहित गार्ग्य की भार्या मैत्रायणी की कोख से वह उत्पन्न हुआ था और किशोरावस्था में तक्षशिला के गुरुकुल का सुशील छात्र था। वह आचारवान, आज्ञाकारी और प्रियभाषी था। उसके शील और प्रतिभा से मन्दबुद्धि सहपाठियों को द्वेष होने लगा। वे आपस में परामर्श करने लगे कि कैसे इसे नीचा दिखाएं। वे उसका छिद्रान्वेषण करने लगे, किन्तु उस निष्ठावान और प्रज्ञावान माणवक में उन्हें कोई दोष नहीं दिखाई दिया। तब उन्होंने निश्चय किया कि आचार्य पत्नी को निमित्त बनाकर इसे लांछित किया जाए।

उस सुशील माणवक पर आचार्य पत्नी का अत्यन्त स्नेह था—अत्यन्त वात्सल्य था। माता की तरह ही वे उसके योग-क्षेम का ध्यान

रखतीं, घर आ जाने पर उसका सत्कार करतीं और आशीर्वाद के रूप में अन्नपूर्णा का प्रसाद देतीं।

विद्वेषी सहपाठियों ने गुरुकुल में यह प्रवाद फैला दिया कि आचार्य पत्नी से ढोंगी भाणवक का अनुचित सम्बन्ध है।

वारी-वारी से प्रवाद को पुष्ट करने के लिए विद्वेषियों ने अपने को तीन टुकड़ियों में विभक्त कर लिया।

पहली टुकड़ी आचार्य के पास जाकर अभिवादन और वन्दना करके खड़ी हो गई।

आचार्य ने पूछा—"क्या है, आयुष्मानो ?"

उत्तर मिला—"वह भाणवक आपके अन्तःपुर को दूषित कर रहा है।"

आचार्य ने डांट दिया—"जाओ, शूद्रो ! मेरे शीलवान पुत्र और मुझमें विग्रह मत उत्पन्न करो।"

बीच-बीच में कुछ दिन छोड़ कर दूसरी-तीसरी टुकड़ी ने भी पहली टुकड़ी की बात दुहराते-तिहराते हुए कहा—"यदि आचार्य को हमारी बात पर विश्वास नहीं है, तो स्वयं परीक्षा करके देख लें।

एक दिन भाणवक आचार्य पत्नी के चरणों में उपस्थित होकर सदा की भांति सहज संलाप कर रहा था। शिशु की तुतली बातों से दुग्धवत्सला मां की भांति विह्वल आचार्य पत्नी भाणवक की सरलता से आत्म-विभोर हो रही थीं। आचार्य ने परोक्ष दृष्टि से देख लिया। वे संभ्रम में पड़ गए। सोचने लगे—"इस दुष्ट को कैसे दण्ड दूं ? यदि मारता हूं, तो मुझे दुर्दण्ड समझ कर अन्य छात्र यहां पढ़ने नहीं आएंगे—गुरुकुल सूना हो जाएगा।"

सोचते-सोचते उन्हें यह सूझा कि इससे ऐसी गुरु दक्षिणा मांगनी चाहिए, जिससे कि यह हिंसक होकर हिंसा से ही समाप्त हो जाए। उन्होंने भाणवक से कहा—"वटुक, तुम्हारी शिक्षा पूरी हो चुकी है। अब मुझे अपनी गुरु दक्षिणा दो।"

भाणवक ने विनम्र होकर कहा—"आचार्यश्री के चरणों में क्या दक्षिणा अर्पित करूं ?"

आचार्य ने आज्ञा दी—"सहस्र नर-नारियों को मार कर अपने साहस का परिचय दो— तुम्हारा साहस ही मेरी दक्षिणा है।"

सरलहृदय भाणवक सिहर उठा। उस नम्र स्नातक ने सात्विक दृढ़ता से कहा—"आचार्य ! मैं अहिंसक कुल में उत्पन्न हुआ हूं—यह जघन्य पाप नहीं कर सकता।"

आचार्य ने क्रुद्ध होकर कहा—"मेरी मनोवांछित दक्षिणा न देने से तुम्हारी विद्या निष्फल हो जाएगी।"

भाणवक ने आचार्य की रुष्ट आंखों की ओर देखा। उनकी शिक्षा की तरह ही, उन आंखों का रक्तारक्त रोष भी उसके कोरे चित्त में अनुरंजित हो उठा। सात्विक स्वभाव में तामसिक प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ। अहिंसक भाणवक हिंसा के पथ पर चल पड़ा। अकेले सहस्र नर-नारियों का सामना नहीं कर सकता था; अतएव पांच हथियार लेकर जंगल में छिप गया।

वह मनुष्य को केवल मारता था, धन और वस्त्र नहीं छीनता था। संख्या याद रखने के लिए गिनता जाता था। जब गिनती याद नहीं रख सका, तब मृतकों की एक-एक अंगुली काट कर रखने लगा। फिर, अंगुलियां रखे स्थान पर खो जाती थीं, तो वह उनकी माला बना कर पहनने लगा। उसके भय से जब लोगों ने काम-काज के लिए जंगल में जाना बन्द कर दिया, तब वह रात के समय गांव में आकर पैर के आघात से दरवाजा खोल सोते हुओं को मार कर गिनती गिनता चला जाता। गांव निगम में और निगम नगर में भागकर राजा को गुहराने लगा।

उस समय तथागत बुद्ध अनाथ पिण्डक के जेतवन में विहार करते थे। पूर्वाह्न में जब वे भिक्षाटन कर रहे थे, तब उन्होंने अंगुलिमाल से पीड़ित प्रजा का आर्तनाद सुना। अपराह्न में वे उस दिशा की ओर चले, जिधर अंगुलिमाल रहता था। उन्हें उधर जाते देखकर गोपालकों, पशुपालकों, कृषकों और पाथकों ने कहा—"महाश्रमण, उस ओर मत जाइए। उधर पचासों आदमी एक साथ जाकर भी अंगुलिमाल के चंगुल से नहीं बचते।"

तथागत ने कहा—"अंगुलिमाल से तुम लोग इतना डरते हो? क्या वह मनुष्य के मनोविकारों से भी अधिक भयंकर है?"

लोग हतबुद्धि उन्हें देखते रह गए। निर्भयचित्त तथागत आगे बढ़ गए।

अंगुलिमाल ने उन्हें जब अकेले ही आते हुए देखा, तब वह आश्चर्य में पड़ गया—"कौन है, जो मेरे सामने आने का साहस कर रहा है? अरे, यह तो कोई श्रमण है! क्या इसे मारूं?"

तथागत के दीप्तिमान व्यक्तित्व से अभिभूत होकर क्षण भर वह असमंजस में पड़ गया। फिर उसे अपने हिंसात्मक संकल्प का ध्यान आ गया। उसने कड़क कर कहा—"ठहरो!"

तथागत रुके नहीं, चलते ही रहे। अंगुलिमाल को ऐसा जान पड़ा, यह श्रमण उसकी दुर्द्धर्ष शक्ति का तिरस्कार कर रहा है। क्षुब्ध होकर तथागत को पकड़ने के लिए उसने दौड़ने का प्रयत्न किया, किन्तु अपनी मानसिक उलझन (दुविधा) में ऐसा उलझ गया कि जहां का तहां निश्चल रह गया। वह सोचने लगा—"दौड़ते हुए हाथी को, घोड़े को, रथ को, मृग को पकड़ लेने वाला मैं इस मन्दगति श्रमण से क्यों पिछड़ गया? मुझ पर यह कैसा सम्मोहन छा गया?"

उसकी देवासुर प्रवृत्तियों में आन्तरिक संघर्ष होने लगा। अपने दुर्दम पशु शरीर को आस्फालित कर उसका असुरत्व प्राणपण से एक बार फिर हुंकार उठा—"खड़ा रह, श्रमण!"

तथागत ने कहा—"चलने में मुझे कोई कष्ट नहीं! निरुद्विग्न हूं, अतएव मैं सुस्थित हूं—तू भी सुस्थित हो, अंगुलिमाल!"

अंगुलिमाल ने विस्मित होकर पूछा—"श्रमण, यह कैसी पहेली है? तुम चलते जा रहे हो, फिर भी अपने को सुस्थित कहते हो—मैं खड़ा हूं, फिर भी मुझे अस्थित कहते हो!"

तथागत ने कहा—"जो उद्धत है, असंयत है, वह खड़ा होकर भी चंचल है। जो उदात्त है, वह संयत चलते हुए भी अविचल है।"

तथागत की मार्मिक वाणी से उस प्रसुप्त मानव की मानसिक मूर्च्छा प्रेतबाधा की तरह दूर हो गई। दुर्दान्त दस्यु के भीतर तिरोहित तक्षशिला

का शीलवान, प्रज्ञावान भाणवक जाग उठा। उसकी आंखों के सामने अतीत चलचित्र की तरह घूम गया। उसे अपनी वर्तमान प्रवृत्ति से आत्मग्लानि होने लगी। उसने अनुभव किया—"मेरी शिक्षा का शुभारम्भ अब हो रहा है !"

हथियार फेंक कर वह अपने नए शास्ता तथागत के चरणों में प्रणत हो गया। करुणामय ने अपनी शरण में ले लेने के लिए बाहें फैला कर उसे आहूत किया—"आ, भिक्षु !" यह नवीन सम्बोधन ही उसका संन्यास हो गया। अब वह अंशुमाल था।

अंगुलिमाल ने उनकी पदधूलि मस्तक से लगा कर कहा—"मैं तथागत के चरणों का चिर-अनुगत रहूंगा।

अंगुलिमाल ने पश्चात्ताप और कृतज्ञता से विगलित होकर कहा—"भगवन, मेरे पापों का क्या प्रायश्चित्त है ? यह अधम आप के प्रति भी दुर्विनीत हो गया था।"

तथागत ने कहा—"वत्स, तेरा पश्चात्ताप ही तेरा प्रायश्चित्त है। अब तू किसी के द्वारा प्रताड़ित किए जाने पर भी प्रतिकार मत करना, प्रतिशोध मत लेना। हिंसा के बाद अब तू प्रतिहिंसा से भी विरक्त हो जा।"

अंगुलिमाल को अपना अनुगामी श्रमण बना कर तथागत जेतवन लौट आए।

कोशल नरेश प्रसेनजित प्रजा की पुकार से विवश होकर पांच सौ घुड़सवारों के साथ अंगुलिमाल का दमन करने के लिए स्वयं श्रावस्ती से प्रस्थान कर रहा था। तथागत का आशीर्वाद पाने के लिए वह अकेले पहले जेतवन में गया। उसे उदास देख कर तथागत ने पूछा—"राजन्, इतने चिन्तित क्यों हो ? क्या किसी राजा ने तुम्हारे ऊपर धावा बोल दिया है ?"

प्रसेनजित ने कहा—"भन्ते ! किसी राजा ने नहीं, डाकू अंगुलिमाल ने मेरे सारे राज्य को संकट में डाल रखा है। मैं उसी का निवारण करने जा रहा हूं। आपका आशीर्वाद चाहिए।"

तथागत ने मुसकराकर कहा—"राजन्, यदि अंगुलिमाल का हृदय परिवर्तन हो गया हो—वह एकाहारी ब्रह्मचारी अहिंसक परिव्राजक हो गया हो, तो आप उसके साथ कैसा व्यवहार करेंगे ?"

प्रसेनजित ने कहा—"भन्ते ! हम प्रत्युत्थान करेंगे, आसन के लिए निमन्त्रित करेंगे, संन्यास के उपकरण प्रदान करेंगे, सब तरह से रक्षा करेंगे ! किन्तु उस दुःशील पापी से क्या शील-संयम सम्भव है ?"

अंगुलिमाल तथागत से थोड़ी दूर पर बैठा हुआ था। तथागत ने उसकी दाहिनी बांह पकड़कर राजा के सामने उपस्थित करते हुए कहा—"राजन्, यह है तुम्हारा अपराधी—अंगुलिमाल !"

इस आकस्मिक संवाद से प्रसेनजित सिर से पैर तक कांप उठा। उसे चकित और रोमांचित देखकर तथागत ने ढाढ़स दिया—"राजन् डरो मत, इस आतंककारी में अब कोई डंक नहीं है। एक बार इसे भर आंख देखो तो सही।"

प्रसेनजित ने आश्वस्त होकर ध्यान से देखा—ग्रीष्म का प्रचण्ड मार्तण्ड शिशिर का सुकोमल आतप हो गया है।

सम्मानपूर्वक खड़े होकर राजा ने अंगुलिमाल का सांजलि अभिवादन किया। उस नूतन ब्रह्मचारी ने अपनी सौम्य दृष्टि से राजा को अभिषिक्त कर आशीर्वाद दिया—"तथागत के चरणों में सबका कल्याण हो।"



परिक्रमा

शेखर जोशी

घर में चारों ओर जैसे एक गुप्त मन्त्रणा चलती रहती। हर एक के मन में जैसे कोई रहस्य पल रहा था। कहने भर को ही संयुक्त परिवार था। घर के ही नहीं, बाहर के लोग भी जानते थे कि इस संयुक्त परिवार के आधार कितने खोखले हो चुके हैं। हमेशा यही आशंका लगी रहती कि न जाने कब विस्फोट हो जाए ! कब कौन सी बात बारूद के ढेर में चिनगारी का काम कर दे !

घर के आंगन में, दाड़िम की छाया में, बैठे-बैठे दिन भर हरिदत्त जी बड़बड़ाते रहते। बुढ़ापे की धुंधली दृष्टि से भी उन्हें परिवार के प्रत्येक सदस्य के मुख पर छाई हुई विषाद की छाया दिखाई दे जाती।

ऐसे कब तक चलेगा ? इसका समाधान तो करना ही होगा। समाधान का अर्थ है, विभाजन ! विभाजन की कल्पना करते-करते हरिदत्त जी का शरीर सिहर उठता। आज तक नवागुन्तकों के सम्मुख अपने संयुक्त परिवार की घोषणा करते हुए उन्हें कितना गर्व अनुभव होता रहा था ? पर अब अधिक दिनों तक ऐसे नहीं चलेगा। एक दिन बड़ी बहू ने आकर श्वसुर के पैर पकड़ लिए थे। एक शब्द भी वह नहीं बोली थी, केवल आंसू ! आंसू ! जैसे आज अपने आंसुओं से वह पूरी धरती को जलमग्न कर देगी। अभागिनी विधवा के आंसुओं से बड़े घर की ईंट-ईंट भीग गई थी। आंसू थम चुकने पर, रुंधे कण्ठ से बार-बार वह दुहराती

थी—"मेरा क्या कसूर है, आप ही बताइए !" बाबा की उम्र के वृद्ध श्वसुर के आगे, ऐसे क्षणों में भी, उसका घूंघट नहीं उठा था।

हरिदत्त जी ने कोई उत्तर नहीं दिया था। उत्तर देने के लिए बचा ही क्या था ? 'बड़ी' का कोई दोष भी तो नहीं था। दोष तो उन्हीं का था कि इतनी दीर्घायु का वरदान पाकर उन्होंने जन्म लिया। चार लड़कों में से एक के बाद एक, दो जवान लड़कों की मृत्यु का दुःख हीं जैसे पर्याप्त न हो—हर दिन, हर घड़ी, घर में कलह मची रहती। जो बीत गया, उसे भुला भी दिया जा सकता था। पर उस व्यतीत की स्मृति में दोनों विधवाओं के सूने हाथ जब तब उनकी पूजा-सामग्री जुटा जाते, तो वह घाव फिर हरा हो जाता। दूसरी बहू ने कभी रो-धोकर कोई शिकायत की हो, हरिदत्त जी को याद नहीं पड़ता। उसका वैधव्य जैसे उसे गूंगी बना गया था। अपने हरीश का हाथ थाम कर, दरवाजे की आड़ में खड़ी हो, वह कह देती—"जा, बाबा के पास जाकर बैठ !"

हरिदत्त जी एक बार आंखें उठा कर देख लेते, परन्तु मैली धोती में लिपटी बहू की आकृति न जाने कब द्वार की ओट से ओझल हो गई होती। तब नन्हें हरीश को बुला कर वे पास में बैठा लेते। हरीश की ओर देखकर उन्हें लगता, जैसे उसका पिता गोपाल एक बार फिर अपने शैशव में लौट आया हो। पर वह आकृति भी धीरे-धीरे अस्पष्ट हो जाती। सावन-भादों के बादल उन दोनों के बीच पहरा देने लगते।

रामदत्त की पत्नी का तीखा असन्तुष्ट स्वर कभी-कभी कानों में आ टकराता। प्रतिदिन दूध को लेकर, बच्चों की बातों को लेकर, घरेलू काम-काज को लेकर एक न एक झगड़ा उठ खड़ा होता। सबसे छोटी, कैलाश की बहू का ऐसा तीखा, असन्तुष्ट स्वर तो उन्हें नहीं सुनाई देता था, पर वह इतनी सीधी-सादी नहीं है, यह भी हरिदत्त जी जानते थे। दोनों विधवाओं के सम्मुख दोनों सुहागिनों को अपने आप पर समान गर्व था। दोनों बहुएं इस बात का प्रदर्शन करना नहीं भूलती थीं कि उनके कमाऊ पतियों के कारण ही घर-संसार चल रहा है। दोनों सुहागिनों में परस्पर विशेष प्रीति थी। रामदत्त की बहू कहती—"छोटी, मुन्नी को दूध पिला दे तो।"

छोटी दांतों के बीच निचला ग्रोंठ दबा कर उत्तर देती—"दीदी, दूध तो वहुत कम दिखाई दे रहा है। कोई दो पैरों वाली बिल्ली तो नहीं पी गई ?" ग्रौर, दोनों सुहागिनों के मुख पर रहस्यभरी मुसकान फैल जाती !

बड़ी बहू ग्रौर हरीश की मां, दोनों विधवाग्रों के कलेजे में तीर की तरह यह वात चुभ जाती। दिन भर में कई बार ऐसे ही विष भरे शब्द घर के वातावरण में गूंज उठते। इन विषाक्त शब्दों से कभी भी मुक्ति नहीं थी। जब सब कुछ ग्रसह्य हो उठता, तो पानी की गागर उठा कर बड़ी बहू डिग्गी की ग्रोर चल देती। हरीश की मां का बड़ा मन होता कि कहीं एकांत में वह उससे बातें करे ग्रौर मौका मिलने पर ग्रन्य दोनों बहुग्रों की दृष्टि बचाकर वह भी उसके पीछे-पीछे चली जाती।

बड़ी बहू धीरज बंधाने के स्वर में कहती—"बहन, दिल छोटा नहीं करते। दुख-सुख तो रात-दिन की तरह ही रहते हैं। भगवान करे, भुवन चार पैसे कमाने-लायक हो जाए। मैं तुझे उसके साथ भेज दूंगी। हरीश भी पढ़-लिखकर ग्रादमी बन जाएगा।"

भुवन बड़ी बहू का इकलौता वेटा था स्वर्गीय पति की एकमात्र विरासत ! वह ग्रपने बड़े चाचा के साथ रहकर शहर में पढ़ रहा था।

दोनों बहुएं मन का बोझ हलका कर पानी की गागर लिए घर लौट ग्रातीं।

नौकरी से छुट्टियों में कुछ दिन के लिए रामदत्त घर ग्राया हुग्रा था। एक दिन ग्रचानक किसी बात को लेकर घर में कलह हो गई। सदा के शिष्ट-सभ्य रामदत्त ने उस दिन तमक कर पिता से कह दिया—"बाबू जी, ग्राप कहें, तो मैं कैलाश को भी चिट्ठी भेजकर बुला लूं ग्रौर इस वात का फैसला हो जाए कि ग्रगर इन लोगों से मिल-जुल कर नहीं रहा जाता, तो ग्रलग-ग्रलग क्यों नहीं हो जाते। भुवन को मैं पढ़ा रहा हूं। ग्रपनी ग्रोर से जितना हो सकेगा, मैं भाभी की मदद कर दूंगा ग्रौर हरीश की मां की जिम्मेवारी कैलाश ले ले।"

हरिदत्त को ग्राज तक जिस बात की ग्राशंका थी, ग्रंत में वही सामने ग्रा खड़ी हुई। परन्तु रामदत्त के मुंह से यह सुनने को मिलेगा, ऐसी ग्राशा

उन्हें नहीं थी। असंयत स्वर में वे बोले—"रामी ! जिस दिन मैं मर जाऊंगा, उस दिन तुम पहले बंटवारा करना, फिर मेरी अर्थी उठाना। पर जब तक मैं जिन्दा हूं, कभी ऐसी बात इस घर में नहीं उठेगी। हमारे खानदान में आज तक ऐसा नहीं हुआ है !........." क्रोध और दुख के कारण उनका शरीर कांपने लगा और आंखें भर आईं।

वास्तव में, जब तक हरिदत्त जी जीवित रहे, फिर ऐसी बात घर में नहीं उठी। पर एक दिन अचानक जब उनकी मृत्यु हो गई, तो परिवार धीरे-धीरे छंटने लगा। पिता जी की मृत्यु के पश्चात काम-काज पर लौटते समय रामदत्त अपने बाल-बच्चों को अपने साथ ले आया—कैलाश ने भी कुछ दिनों के बाद छोटी को बुलवा लिया। एकमात्र नन्हें हरीश को लेकर दोनों विधवाएं उस कोलाहलहीन घर में शेष रह गईं। प्रतिमास कैलाश अथवा रामदत्त की ओर से जो थोड़ी बहुत सहायता मिल जाती, उसके अलावा घर की खेती-बारी ही उनके जीवन-यापन का साधन थी। कभी-कभी भुवन का पत्र आ जाता। हर प्रकार से मां को धीरज बंधाने के बाद वह लिखता कि उसे जल्दी ही कहीं नौकरी मिल जाएगी। कई महीनों तक यह क्रम चलता रहा।

एक दिन भुवन का पत्र पहुंचा कि वह वायु सेना में भर्ती हो गया है और अवसर मिलने पर मां-चाची,दोनों को अपने साथ ले जाएगा। सैनिक जीवन की बातें सोचते हुए बड़ी बहू का मन चिन्तित हो उठा—देवर के प्रति आक्रोश हो आया कि भुवन के लिए उन्होंने कहीं और कोशिश न कर उसे सेना में भेज दिया है। परन्तु दूसरे ही दिन रामदत्त का पत्र आ पहुंचा। उसने लिखा था—"भुवन की इस विभाग में जाने की बड़ी इच्छा थी। चिन्ता करने की कोई बात नहीं है। अच्छी और सुरक्षित जगह उसे मिली है।" इससे बड़ी बहू का मन कुछ हलका हो गया।

किन्हीं कारणों से भुवन मां-चाची को अपने साथ नहीं ले जा पाया। पर अब प्रतिमास वह उन्हें खर्च भेज देता था। रामदत्त और कैलाश की ओर से सहायता मिलनी बन्द हो गई थी। धीरे-धीरे पत्र व्यवहार भी कम हो गया। बड़ी बहू चार पत्र लिखतीं, तो उनकी ओर से दो-तीन महीने बाद एक पत्र आता। समय अपनी गति से चलता रहा।

पारिवारिक जीवन की इस शिथिल गति मे सहसा एक अद्भुत परिवर्तन हो गया। भुवन का पत्र आया कि उसे पाइलट अफसर के पद के लिए चुन लिया गया है। बड़े उत्साह से उसने पत्र लिखा था। पत्र के शब्द-शब्द से उसकी प्रसन्नता झलकी पड़ती थी। बड़े विस्तार से उसने लिखा था कि कुछ ही महीनों में ट्रेनिंग के बाद उसे पांच सौ रुपये से भी अधिक वेतन मिलने लगेगा। अपने उज्ज्वल भविष्य का जैसा चित्रण भुवन ने किया था, वह अद्भुत था। बड़ी बहू को लगा, जैसे वह कोई स्वप्न देख रही हो। इतने बड़े सुख की उसने कभी कल्पना भी नहीं की थी, इसी कारण आज उसका भार उसे असह्य प्रतीत होने लगा। बार-बार उसकी आंखें भर आतीं। नन्हें हरीश और उसकी मां की प्रसन्नता की कोई सीमा ही नहीं थी। कुछ ही क्षणों में गांव भर में यह खबर फैल गई कि भुवन बड़ा अफसर बन गया है। जिसने भी सुना, वह बड़ी बहू को बधाई देने के लिए चला आया।

दो दिन बाद दो अलग-अलग स्थानों से रामदत्त और कैलाश की बहू के पत्र आ पहुंचे। छोटी बहू की ओर से उन्हें इससे पूर्व कभी पत्र नहीं मिला था। दो-चार पत्रों के उत्तर में कभी एक-आध पत्र आ भी जाता, तो वह कैलाश की ओर से लिखा हुआ होता था। दोनों ही पत्रों में भुवन की पदोन्नति पर असीम प्रसन्नता प्रकट की गई थी।

बड़ी बहू मेले के बीच खड़े हुए बच्चों की भांति चकित दृष्टि स सब कुछ देखती-सुनती रही। अब भी जैसे उसे विश्वास नहीं हो रहा था कि भुवन उनके समाज का एक असामान्य व्यक्ति बन गया है।

कुछ दिनों बाद छुट्टियों में भुवन गांव लौटा। वह भरा-पूरा जवान हो गया था। उसकी बातें सुनकर मां को लगता कि वह कल का शर्मीला भुवन नहीं, कोई और है। भुवन के कारण ही जैसे गांव-पड़ोस में बड़ी बहू का सम्मान बढ़ गया था। लोग उसके सम्मुख पहले की अपेक्षा कहीं अधिक विनम्रता और आदर दिखलाते। हरीश की अंगुली थामे भुवन गांव भर का चक्कर लगा आता। स्नेह से मां उसे देखा करती, चाची की आंखों में आशीष झलकता।

छुट्टियां समाप्त होने से पूर्व ही भुवन ने जाने की तैयारी कर ली। रामदत्त और कैलाश, दोनों ही ने अपनी-अपनी ओर से उसे मां को लेकर अपने पास आने का निमन्त्रण दे दिया था।

घर का कारबार देवरानी के हाथों में सौंपकर बड़ी बहू भुवन के साथ चल दी। रामदत्त स्टेशन पर उन्हें लिवाने आया। देवर के घर पहुंच कर बड़ी बहू को लगा, जैसे रामदत्त की पत्नी को भुवन से कहीं ज्यादा स्वयं उसकी प्रतीक्षा ही हो। अपनी इस देवरानी का ऐसा व्यवहार उसके लिए आश्चर्य की वस्तु बन गया। वह बातें करती, तो जैसे मुंह से फूल झड़ते। चार-पांच दिन वहां रुक कर भुवन कैलाश के पास जाने की तैयारियां करने लगा, तो रामदत्त की बहू ने इस बात का बड़ा आग्रह किया कि भुवन नौकरी पर जाने से पूर्व मां को उनके पास छोड़ जाए! कैलाश और छोटी बहू का व्यवहार भी पहले की अपेक्षा कहीं अधिक अपनत्वपूर्ण था। जेठानी के सेवा-सत्कार में छोटी बहू दिल खोलकर खर्च कर रही थी। पहले दिन ही बाजार से दो-चार अच्छी किस्म की साड़ियां लाकर छोटी ने कहा—"जीजी, अब तो आप बड़े अफसर की मां हो गई हैं! ऐसी मोटी धोतियां ही पहने रहेंगी, तो लोग हंसी नहीं करेंगे।"

बड़ी बहू ने स्नेह से छोटी की ओर देखा और कहा—"तुम्हारा ही बेटा है, बहू! तुम लोग अपना शौक पूरा करो। अब क्या मेरे पहनने-ओढ़ने के दिन हैं!" कहते हुए उसकी आंखें भर आई थीं।

भुवन की छुट्टियां समाप्त होने को आ गई थीं। छोटी बहू का आग्रह भी जेठानी को अपने पास रोक लेने का था, परन्तु शीघ्र ही दुबारा आने का वचन देकर वह भुवन के साथ लौट गई।

लौटती बार भुवन मां को रामदत्त के घर छोड़ गया था। हरीश और उसकी मां के अलावा बड़ी बहू को गांव की खेती-बारी की भी चिन्ता लगी रहती। बार-बार कहती—"कौन जाने, अकेले उससे काम निबटा भी होगा कि नहीं। सारी फसल बर्बाद हो जाएगी।"

परन्तु आजकल करते-करते उसे वहां रहते दो महीने बीत गए। रामदत्त की बहू प्रत्येक छोटी से छोटी बात के लिए उसकी राय लेती।

बड़ी बहू ने रामदत्त से पत्र लिखवा कर कैलाश और छोटी बहू को तथा गांव से हरीश व उसकी मां को भी कुछ दिन के लिए बुलवा लिया था। घर में दिन-रात चहल-पहल रहती। सभी बातों के उत्तर जैसे बड़ी बहू के पास हों। यह कैसे होगा ? वह कैसे होगा ? क्या खाना बनेगा ? सभी बातें बड़ी बहू से पूछी जातीं। उसे लगता, जैसे वर्षों पहले प्रथम बार ससुराल में आने पर उसने सास को जिस गौरवपूर्ण पद पर बैठी देखा था, आज वही पद उसे अनायास ही मिल गया है। एक भरे-पूरे परिवार का स्वप्न उसकी आंखों में तैर जाता।

परन्तु मेले के बीच में खड़े बालक की भांति बड़ी बहू चकित दृष्टि से अपने चारों ओर जो स्वप्न देख रही थी, वह स्वप्न ही बन कर रह गया !

दोपहर का भोजन समाप्त कर घर-भर के लोग सुस्ता रहे थे, तभी डाकिए ने आवाज दी। बड़ी बहू ने उत्सुकता से पूछा—"लाला, देखो तो भुवन की तो कोई चिट्ठी नहीं आई। कितने दिनों से अपनी कुशल उसने नहीं भेजी।"

"ट्रेनिंग के काम में फंसा होगा, जीजी ! वरना वह ऐसा नहीं। हमें तो हर हफ्ते एक चिट्ठी भेज देता है।"—छोटी बहू ने उसे खुश करने की नीयत से कहा।

भुवन की ही चिट्ठी थी। पर रामदत्त ऊंचे स्वर में पढ़ कर नहीं सुना पाया।

"कुछ समझ में नहीं आता।" केवल इतना ही उसके कण्ठ से निकला और वह फिर चिन्ता में डूब गया।

सभी का हृदय किसी भयंकर घटना की आशंका से धड़कने लगा। पर कब तक मौन रहा जा सकता था। भुवन ने लिखा था—"छुट्टियों से लौटने के कुछ दिन बाद ही मैं एक कार-एक्सीडेंट में घायल हो गया था। हाथ में चोट अधिक आ गई थी। कल प्लास्टर खुला है। अब ठीक हूं। लेकिन हाथ की कमजोरी के कारण शायद सेना के योग्य नहीं रहूंगा।"

बड़ी बहू ने आंखें पोंछ, आंचल का छोर माथे से लगाकर, धीमे

स्वर में कहा—"मेरे भुवन की जान बच गई—यही बहुत है, भगवान।" और दोनों हाथ जोड़ कर जैसे उसने मन ही मन भगवान को नमस्कार किया।

पर बड़ी बहू का सा ही मन लेकर तो सभी पैदा नहीं हुए हैं। तभी तो न जाने कैसे स्वर में रामदत्त की बहू ने पूछा—"अस्पताल से छूट कर कहां जाने की वात उसने लिखी है ?"

इसके बाद फिर घरेलू काम-काज की बातों में बड़ी बहू से किसी ने कोई राय नहीं ली। कैलाश और छोटी बहू का आग्रह हमेशा उन्हें अपने साथ ले जाने का रहता था, परन्तु इस बार जब बड़ी बहू ने वापस गांव जाने की वात कही, तो किसी ने वात पर आपत्ति नहीं की।

अपना सामान संभालते हुए, बड़ी बहू को हरीश की मां के साथ चलने की तैयारी करने के लिए नहीं कहना पड़ा। वह स्वयं जैसे जानती हो कि उन दोनों का पथ एक ही है।

